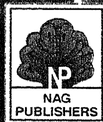
उपनिषदों के निर्वचन

डॉ० वेदवती वैदिक



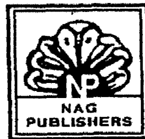
नाग पब्लिशर्स

औपनिषदिक वाडमय परम गुह्य तत्वो का अथाह समुद्र है। इस वाडमय की भाषा दुरूह और प्रतीकात्मक है। उपनिषदो मे प्रयुक्त शब्दो के विविध अर्थो और अर्थो के भी विभिन्न भावो को समझे बिना उनका समुचित अवगाहन असम्भव है। उपनिषद् वाड्मय के गुह्य अर्थो को अनावृत्त करने के लिए तत्ववेत्ता ऋषियो ने अनेक पद्धतियो का प्रयोग किया ह। उनमे निर्वचन-पद्धति अत्यन्त महत्वपूर्ण ह। निर्वचन वह कुजी हे, जो शब्दो के असख्य अर्थो के खजानो को खोल देती है।

यह ग्रन्थ इसी दिशा मे किया गया पथम प्रयास है। उपनिषद्-वाडमय की विख्यात विदुषी डॉ वेदवती वैदिक द्वारा परिश्रमपूर्वक सम्पन्न किए गए इस शोध-कार्य को मुमुक्षुओ, अध्येताओ और जिज्ञासुओ के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम हर्ष का अनुभव कर रहे है।

उपनिषदों के निर्वचन

डॉ. वेदवता वादक
अध्यक्षा, सस्कृत विभाग
श्री अरविन्द महाविद्यालय (साध्य)
मालवीय नगर,
नई दिल्ली,११००१७



नाग पब्लिशर्स
११- ए (यू.ए.) जवाहर नगर,
दिल्ली - ११०००७
भारत

राष्ट्रिय सस्कृत सस्थान, नई दिल्ली के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित।

नाग पब्लिशर्स

(१) ११ए-यूए, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

(२) जलालपुर माफी (चुनार मिर्जापुर) उ प्र

दूरभाष २३९६७९७५, २३९१५८८३, २३९५७४४०

© लेखक

ISBN 81-7081-569-X

प्रथम सस्करण २००३

मूल्य रू ७० ००

श्री सुरेन्द्र प्रताप द्वारा नाग पब्लिशर्स, ११ए, यू ए, जवाहर नगर दिल्ली द्वारा प्रकाशित तथा जी प्रिट प्रासेस, ३०८/२, शहजादा बाग, दया बस्ती, दिल्ली ११००३५ में मुद्रित। अक्षरयोजक मोहन कम्प्यूटर प्वाइन्ट, ८ ए (यू ए / ३) जवाहर नगर, दिल्ली - ११०००७.

'द्वा सुपर्णा' के समान
मेरे दो पर्णों
सुपर्ण और अपर्णा
को
सस्नेह समर्पित

प्राक्कथन

औपनिषदिक वाड्मय परमगुह्य तत्त्वो का अथाह समुद्र है । इस वाड्मय की भाषा दुरूह और प्रतीकात्मक है । 'ब्रह्म' का साक्षात्कार करनेवाले ऋषियो के आदेश और उपदेश भी गुह्य है ।तत्त्व-चिन्तन की अतर्वर्ती तार्किक शृखला को प्रस्तुत करने एव तात्त्विक गुत्थियो को सुलझाने के लिए तत्त्ववेत्ता ऋषियो ने अपने सवा्दो मे अनेक विवेचन पद्धतियो को अपनाया है । दर्शना एव वर्णना उभयविध शक्तियो से सम्पन्न ऋषियो ने स्वात्मनुभूतियो को अभिव्यक्त करने के लिए— पहेली-पद्धति, सूत्र-पद्धति, कथा-पद्धति, दृष्टान्त-पद्धति, सवाद-पद्धति, समन्वय-पद्धति, आत्मोक्ति-पद्धति, प्रयोजन-पद्धति, प्रतिगमन-पद्धति एव निर्वचन आदि पद्धतियो का प्रयोग किया है ।

सम्पूर्ण औपनिषदिक ज्ञानराशि 'सवाद शैली' मे उपलब्ध होती है । तत्त्वचितनपरक सवाद सगोष्ठियो मे ही उपर्युक्त पद्धतियो का प्रयोग किया गया है । इस ग्रन्थ मे केवल निर्वचन-पद्धति को ही अध्ययन का विषय बनाया गया है ।उपनिषद् वाड्मय के निगूढ़ एव गुह्य अर्थो को जानने के लिए जिन व्याख्या पद्धतियो का प्रयोग किया गया है, उनमे निर्वचन पद्धति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एव उपादेय है । निर्वचन वह कुजी है जो शब्दो के असख्य अर्थो के खजानो को खोल देती है । मनुष्य अपने मनोगत अमूर्तभावो को वाणी के माध्यम से शब्दो के आवरण मे अभिव्यक्त करता है । शब्दो के निगूढ अर्थो को जानने का नाम ही निर्वचन है । निर्वचन और निरुक्त शब्द निर + वच् से निष्पन्न होते है । दुर्गाचार्य के अनुसार निर्वचन शब्द का अर्थ है — निष्कृष्य = विगृह्य वचनम् = निर्वचनम् । अर्थात् शब्द मे छिपे हुए अर्थ का विग्रह करना ही निर्वचन है ।

उपनिषद्-वाड्मय मे निरुक्त शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है ।

(१) **निरुक्तं च अनिरुक्त च।** तैत्तिरीय उपनिषद् मे निरुक्त शब्द का प्रयोग निर्वचनीय और अनिर्वचनीय दोनो अर्थो मे किया गया है ।

(२) **उद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमयस्य।** छादोग्योपनिषद् मे भी यह निरुक्त और अनिरुक्त अर्थ मे उपलब्ध होता है । जैसे प्रजापति का सामगान अनिरुक्त अर्थात् अस्पष्ट है और सोम का गान अस्पष्ट है । इस सदर्भ मे निरुक्त और अनिरुक्त सामगान के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुए है ।

(३) **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्त छन्दो ज्यौतिषमिति।** मुण्डकोपनिषद् के इस सन्दर्भ मे निरुक्त का एक वेदाङ्ग के रूप मे वर्णन हुआ है ।

(४) **स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्त ँ हृद्यमिति तस्माद्धृद्यम हरहर्वा एवंवित्स्वर्ग लोकमेति।** अर्थात् यह आत्मा हृदय मे है, **'हृदि अयम्'** ।हृदय शब्द की यही निरुक्ति है । छादोग्योपनिषद् के इसी सन्दर्भ मे सर्वप्रथम निरुक्त शब्द निर्वचन (निरुक्ति) के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । इस वाङ्मय मे निरुक्त शब्द के वे सभी अर्थ, जो पूववर्ती वाङ्मय मे प्रचलित थे, उपलब्ध होते है । निरुक्त शब्द का निरुक्ति - निर्वचन अर्थ मे प्रयोग इस वाङ्मय की विशिष्टता है ।

रूपरेखा

(१) इस ग्रन्थ मे प्रमुख उपनिषदो मे प्राप्त होनेवाले निर्वचनो को ही समाहित किया गया है ।

(२) निर्वचनो को वर्णक्रमानुसार वर्गीकृत किया गया है ।

(३) (i) सर्वप्रथम निर्वचनीय शब्द का शाब्दिक अर्थ दिया गया है ।

(ii) उसके बाद निर्वचनीय शब्द का अत्यन्त सक्षिप्त औपनिषदिक विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिससे तत्-तत् शब्द के विविध पक्षो और आयामो का बोध हो सके ।

(iii) अत मे निर्वचनीय शब्द का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है ।

(४) औपनिषदिक निर्वचन विविध प्रकार के है । कुछ निर्वचन गुणपरक है तो कुछ कर्मपरक । जैसे, 'मन्वानो मन ' कर्मपरक निर्वचन है तो 'द' इस एकाक्षर

का निर्वचन — 'द द द इति' 'दाम्यत दयध्वमिति तदेत्त्रय शिक्षेद्दम दान दयामिति' गुणपरक होने से शिक्षाप्रद है। 'हृदय' शब्द की निरुक्ति तत्युगीन जीववैज्ञानिक चेतना का बोध कराती है। पुत्र शब्द का निर्वचन — 'किचिदक्षणयाऽकृत भवति तस्मादेनँ सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम,' पिता पुत्र सम्बन्धो, पुत्र के कर्त्तव्यो, और पितृसत्तात्मक समाज का मानो प्रतिबिम्ब ही उपस्थित कर देता है। ओ३म् के निर्वचन से पता चलता है कि ओङ्कार अक्षर की तीन मात्राएँ — अकार, उकार, मकार, और चतुष्पाद आत्मा के तीन पाद— वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ, आदिमत्व आप्ति, उत्कर्ष, मिति और अपिति के कारण समान है। प्राण ही 'क्षत्र' है क्योकि प्राण ही शरीर की 'क्षत्' से अर्थात् शास्त्रादि के द्वारा किये गए घावो की पीडा से रक्षा करता है और घावो को पुन मास से भर देता है। 'प्राण' और 'क्षत्र' मे गुण और क्रिया दोनो की समानता है।'क्षत्र' अर्थात् क्षत्रिय का कर्त्तव्य है प्रजा की रक्षा करना। 'क्षत्रत्व' ही दोनो का साम्यत्व है। आङ्गिरस शब्द का निर्वचन 'समस्त' निर्वचन है क्योकि यह शब्द अङ्ग और रस से निष्पन्न हुआ है। यो तो आङ्गिरस एक ऋषि का नाम है परन्तु 'आङ्गिरसोऽङ्गानाँ हि रस प्राणो वा अङ्गानॉ रस ।' इस निर्वचन के अनुसार समस्त अङ्गो का रस होने के कारण प्राण को ही आङ्गिरस कहा गया है क्योकि जिस किसी अङ्ग से प्राण निकल जाते है, वही अङ्ग सूख जाता है।'

ब्राह्मणग्रन्थो की निरुक्तियो का केन्द्र यदि यज्ञ रहे हैं तो औपनिषदिक निरुक्तियो का केन्द्र विभिन्न दार्शनिक तत्त्व ही रहे है। चाहे ऋषि नाम हो, चाहे देवनाम हो, चाहे गायत्री छन्द हो, चाहे उद्‌गीथ हो, अक्षर ओङ्कार हो, 'द' एकाक्षर हो, सभी का केन्द्रबिन्दु परमतत्त्व ही है। निर्वचनपरक प्रस्तुत ग्रन्थ मे समग्र दृष्टि से निर्वचनो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन निर्वचनो से तत्युगीन आध्यात्मिक, पारिवारिक, सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो एव स्थितियो का भी बोध होता है।

यदि यह ग्रन्थ , उपनिषद्-वाड्मय के गुह्यतम रहस्यो को उद्‌घाटित करने मे थोडा-सा भी योगदान कर सकेगा तो मै अपना श्रम सार्थक समझूगी।

आभार

सर्वप्रथम मै सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी उस परमपिता परमेश्वर को शतश नमन करती हूँ जिनकी कृपा से यह कार्य सम्पन्न हुआ । ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय की समस्त ऋषि परपरा, प्राचीन आचार्यो और विद्वानो को सादर प्रणाम करती हूँ, जिनके ग्रन्थो, भाष्यो और लेखन ने मेरे अध्ययन के मार्ग को प्रशस्त किया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रेरणा के मूल मे, पितृवर्य श्री रामेश्वरदास गुप्ता एव मेरे वात्सल्यमयी मॉ कस्तूरी देवी का शुभ आशीर्वाद रहा है । अध्ययन एव शोध के मार्ग को प्रशस्त करनेवाली स्नेहमयी डॉ देवकन्या आर्य, अभिन्नहृदया सखि डॉ शशिप्रभा कुमार और स्नेहशीला डॉ बिमलेश यादव का मै कृतज्ञता के साथ स्मरण करती हूँ । विद्वान् एव स्नेही पति डॉ वेदप्रताप वैदिक, सुपुत्र चिरजीव सुपर्ण, बिटिया अपर्णा वैदिक एव चिरजीव अनिल (दामाद) के स्नेह एव प्यार से यह कार्य इस रूप मे सम्पन्न हो सका है । राष्ट्रीय सस्कृत सस्थान के निदेशक के प्रति मै अपना आभार किन शब्दो मे व्यक्त करुँ, जिन्होने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए अनुदान देकर मुझे अनुगृहीत किया है । 'नाग प्रकाशक' के श्री सुरेन्द्रप्रताप के सहयोग से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, एतदर्थ मै उनकी सर्वाधिक आभारी हूँ ।

वेदवती वैदिक

१२ फरवरी २००३
ए१९, प्रैस एनक्लेव
नई दिल्ली ११००१७

विषय सूची

अत्रि

शाब्दिक अर्थ

अत्रि (पु) शब्द अद् धातु मे त्रिन् प्रत्यय जोडने पर निष्पन्न होता है[१] । यह एक सूक्तद्रष्टा ऋषि का नाम है ।[२]

उपनिषद् और अत्रि

प्रमुख उपनिषदो मे 'अत्रि' शब्द बृहदारण्यकोपनिषद् के एक ही सदर्भ मे दो बार उपलब्ध होता है । राजर्षि काश्यराज अजातशत्रु दृप्त बालाकि गार्ग्य को सप्तर्षि दृष्टि का निरुपण करते हुए 'अत्रि' ऋषि का उल्लेख करते है । मनुष्य के सिर मे जो सप्तर्षि अर्थात् सात ऋषि है, वे सात इन्द्रियो का प्रतिनिधित्व करते है ।

सप्तर्षि = सात इन्द्रियॉ

७ ऋषि	= ७ इन्द्रियॉ
गोतम + भरद्वाज	= श्रोत्र = दक्षिण और उत्तर कर्ण
विश्वामित्र + जमदग्नि	= नेत्र = दक्षिण और उत्तर नेत्र
वसिष्ठ + कश्यप	= नासारन्ध्र = दायॉ और बॉया नासारन्ध्र
अत्रि + कश्यप	= वाक् (वागिन्द्रिय)

निर्वचन

वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वसस्यान्नं भवति ।[३]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ.३६

२ प्राचीन चरित्रकोश पृ १६

३ इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽय भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽय जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽय कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा । बृह उप २ २ ४

उपर्युक्त सदर्भ मे **'वागेवात्रि'** वाक् अर्थात् वाणी को अत्रि कहा गया है। क्यो ? क्योकि वागिन्द्रिय द्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है। जिसे अत्रि कहते है, वह निश्चय 'अत्रि' नाम वाला है।

अत अत्ता होने के कारण वह 'अत्ति' है। 'अत्ति' होते हुए ही वह परोक्ष रूप से 'अत्रि' कहा जाता है।[१]

भाष्यकार शकराचार्य के अभिमत मे 'अत्रि' शब्द की निरुक्ति का ज्ञान होने से पुरुष प्राण के इस सम्पूर्ण अन्नसमुदाय का 'अत्ता' होता है। 'अत्ता' अर्थात् वह अन्न भक्षण करने वाला ही होता है। 'सर्वमास्य अन्न भवति।' अर्थात् वह भोक्ता होता है, भोज्य नही। जो भोक्ता है, वह अत्रि है।

अत अत्रि वस्तुत तो एक सूक्तद्रष्टा ऋषि थे। परन्तु इस औपनिषादिक निर्वचन से ज्ञात होता है 'वाक् ही अत्रि है', क्योकि वागिन्द्रिय द्वारा ही अन्न खाया जाता है और अत्रि भी अत्ति से बनता है, अर्थात् जो खाता है वह अत्रि है। अत खाने मे समानता होने के कारण अत्रि और वाक् एक है। जो इस प्रकार जानता है वह सब पदार्थो को अन्न की तरह भोगता है।

---

१ वही

अदिति

शाब्दिक अर्थ

अदिति - ती- (स्त्री) शब्द न + दा धातु + डिति, वा डीष् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — पृथिवी, गौ, वाणी, उत्तर पुनर्वसु नक्षत्र ।अदिति आदित्यो की माता है । पुराणो मे देवताओ की उत्पत्ति अदिति से ही बतलाई गई है ।[१] अदिति को आदित्यो की 'अदीना देवमाता' भी कहा गया है ।

उपनिषद् और अदिति

प्रमुख उपनिषदो मे 'अदिति' शब्द कठोपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् मे केवल दो बार मिलता है । कठोपनिषद् मे अदिति को सर्वदेवतामयी बताया गया है । यह सर्वदेवस्वरूप अदिति प्राणरूप परब्रह्म से ही प्रकट होती है । **या प्राणेन सभवत्यदितिर्देवतामयी ।**[२] बृहदारण्यकोपनिषद् मे 'मृत्यु' को ही अदिति कहा गया है ।

निर्वचन

सर्व वा अत्तीति तददितेरदितित्वम् । सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ।[३]

अर्थात् मृत्यु सब कुछ को और सभी को खा जाता है । इसीलिये उसे अदिति कहते है । अदिति का अदितित्व यही है कि वह 'अद-भक्षणे' के अनुसार सब का भक्षण कर जाता है । जो इस प्रकार अदिति के अदिति रूप को जानता है, वह सबका 'अत्ता' याने कि भोक्ता हो जाता है, इस ससार मे जो कुछ भी है वह सब अन्न की भाँति उसका भोग्य बन जाता है ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ३७, वैदिक कोश पृ४०

२ कठ उप २ १७

३ बृह उप १ २ ५

प्रश्न हो सकता है कि मृत्यु रूप ब्रह्म ही अदिति है, ऐसा क्यो कहा गया ? इतना ही नही वह सबका भक्षण भी कैसे कर लेता है ? यहाँ यह भी विचारणीय है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे वर्णित है कि मृत्यु ब्रह्म ने सर्वप्रथम जडजगत की, तदुपरात चेतन जगत की सृष्टि की। चेतन जगत मे मन तथा वाणी से व्यवहार होता है। मृत्यु ब्रह्म ने चेतन जगत को उत्पन्न करने के लिये कामना की। अशनाया रूप मृत्यु ने मन से वेदत्रयी मिथुन की भावना की। उससे जो बीज याने कि रेतस् हुआ, वह 'सवत्सर' था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सवत्सररूपी काल की रचना हुई। उस सवत्सर को, जितना सवत्सर का काल होता है याने कि एक वर्ष तक मृत्युरूप प्रजापति गर्भ मे धारण किये रहा। उसने उस अण्डे को फोड दिया।फलस्वरूप सवत्सर उत्पन्न हुआ। जब वह उत्पन्न हुआ तो मृत्युरूप ब्रह्म ने उसे खाने के लिये अपना भूखा मुँह फाड दिया और सोचा कि अब सृष्टि उत्पन्न हो गई है तो फिर से खाना शुरु करुँ। इतने मे सवत्सर चिल्ला पडा और 'भाण्-भाण्' करने लगा। तत्क्षण ही वाणी उत्पन्न हो गई। क्योकि 'भाण्' वाणी से उच्चरित हुआ था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मृत्यु रूप ब्रह्म भूख से व्याकुल होकर समय की प्रतीक्षा न कर सका। वह समय को ही खाने के लिये दौड पडा। तभी वाक् का जन्म हुआ। अत वाणी वह शक्ति है जो जड तथा चेतन का भेद करती है ।वह अदृश्य रूप मे मन और दृश्य रूप मे वाणी कहलाती है।

वाणी की उत्पत्ति के बाद मृत्यु रूप ब्रह्म ने सोचा कि, 'मै तो अपनी भूख मिटाने के लियें एक विशाल शरीर की रचना कर उसे खाना चाहता था। परन्तु यह क्या, यह तो एक नन्ही सी वाणी उत्पन्न हो गई। यदि मै इसे खा जाऊँगा तो क्या मेरी भूख शात होगी ?' ऐसा सोचकर उसने भूख शात करने के लिये उस छोटी सी वाणी से ऋक्, यजु, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा और पशु इन सभी की रचना की। इस प्रकार उसका चेतन-जगत् के रूप मे दूसरा शरीर तैयार हो गया। अब जो कुछ उसने रचा था, वह उसे फिर खाने लगा। वह जो भी रचता है सब खा जाता है ।इस अन्नभूत सम्पूर्ण जगत् का वह सर्वात्मभाव से ही 'अत्ता' है अर्थात् भक्षण करनेवाला है। जो इस प्रकार अदिति के 'अदितित्व' याने कि अदितिरूप को जानता है, वह इस सबका अत्ता याने कि भोक्ता होता है और यह सब उसका अन्न होता है।

अत उपर्युक्त निर्वचन से ज्ञात होता है कि मृत्युसज्ञक अदिति सबकी अत्ता-भोक्ता है।

अन्तर्यामिन्

शाब्दिक अर्थ

अन्र्यामिन् शब्द अन्तर + यामिन् से मिलकर बना है । 'अन्तर' एक अव्यय है । यह अन् धातु में + अरन् (तुडागम) से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ हैं— मध्य मे, बीचों बीच, अन्दर आदि । अन्तर + यामिन् से अन्तर्यामिन् विशेषण बन जाता है । इसका अर्थ है — दिल की बात जानने वाला । अन्तर्यामिन् (पुं.) शब्द का अर्थ है — अंतःकरण में स्थित जीव की प्रेरणा करनेवाला — ईश्वर; आत्मा ।[१]

उपनिषद् और अन्तर्यामिन्

प्रमुख उपनिषदों में 'अन्तर्यामिन्' शब्द बृहदारण्यकोपनिषद् में सात बार और माण्डूक्योपनिषद् मे एक बार उपलब्ध होता है ।[२] बृहदारण्यकोपनिषद् में तत्त्वचिंतन के पुरोधा ऋषि उद्दालक आरुणि राजर्षि जनक के बहुदक्षिणा यज्ञ के अवसर पर आयोजित विद्वत्सम्मेलन मे महर्षि याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते है कि, 'क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते हो जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतों को अन्दर से (भीतर से) नियमित करता है' ? महर्षि ने उत्तर दिया, ' हे गौतम !मैं उस अन्तर्यामी को जानता हूँ, 'जो पृथिवी के भीतर रहकर पृथिवी का, जल के भीतर रहकर जल का, अग्नि के भीतर रहकर अग्नि का, अंतरिक्ष के भीतर रहकर अंतरिक्ष का, वायु के भीतर रहकर वायु का, द्युलोक के भीतर रहकर द्युलोक का, आदित्य के भीतर रहकर आदित्य का, दिशाओ के भीतर रहकर दिशाओं का, चन्द्रमा और तारों के भीतर रहकर चन्द्रमा और तारों का, आकाश के भीतर रहकर आकाश का, तमस् के भीतर रहकर तमस् का, तेज के भीतर रहकर तेज का और

---

१. शब्दार्थ कौस्तुभ पृ.७४.

२. concordance. P. 65

समस्त भूतो के भीतर रहकर समस्त भूतो का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।[१] **एष त आत्मान्तर्याम्यमृत इति ।**[२] अधिभूतदर्शन का निरूपण कर महर्षि याज्ञवल्क्य अध्यात्मदर्शन का वर्णन करते हुए बताते है कि, 'जो प्राण के भीतर रहकर प्राण का, वाणी के भीतर रहकर वाणी का, नेत्रो के भीतर रहकर नेत्रो का, श्रोत्रो के भीतर रहकर श्रोत्रो का, मन के भीतर रहकर मन का, त्वक् के भीतर रहकर त्वक् का, विज्ञान के भीतर रहकर विज्ञान का, वीर्य मे रहकर वीर्य का, नियमन करता है, वह ही तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।[३]'

निर्वचन

एष त आत्मान्त्र्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्त्र्याम्यमृतः ।[४]

अर्थात् जो अन्दर रहकर सबका नियमन करता है वही अन्तर्यामी अमृत है । वह दिखाई न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनाई न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मन का विषय न होनेवाला किंतु मनन करनेवाला है और विशेष रूप से ज्ञात न होने वाला किंतु विशेष रूप से जाननेवाला है । अत वह अन्तर्यामी द्रष्टा है, श्रोता है, मन्ता है और विज्ञाता है । इस अन्तर्यामी से भिन्न कोई 'द्रष्टा' नही है । (नान्यतोऽस्ति द्रष्टा) । इससे भिन्न कोई 'श्रोता' नही है । (नान्यतोऽस्ति श्रोता) । इससे भिन्न कोई 'मन्ता' नही है । (नान्यतोऽस्ति मन्ता) और इससे भिन्न कोई 'विज्ञाता' नही है । (नान्यतोऽस्ति विज्ञाता) । वह आत्मा ही अन्तर्यामी अमृत है ।

---

१ बृह उप ३ ७ १-१३
२ वही ३ ७ १४
३ वही ३ ७ २२
४ वही ३ ७ २३

अन्न

शाब्दिक अर्थ

अन्न शब्द (न) अनिति अनेन इति अन धातु मे तन् प्रत्यय लगाने से अथवा अद्यते इति अद् धातु मे क्त प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है[१] । अन्न शब्द के शाब्दिक अर्थ है —अन्न, भोजन, भात, कच्चा धान्य, चना, जौ आदि । जल, पृथिवी ।वैदिक कोश के अनुसार इसके अर्थ है — १ अन्न यह खाया जाता है या अन्न ही जीवो को खाता है । (अत्ति भूतानि, अथवा अद्यते) । २ भोजन के लिये लाया जाता है ।[२] (आनत भूतेभ्य) आङ् + नम् + क्विप् = आनम् = अन्नम् ३ अन् (प्राणन अर्थवाला धातु) + न = अन्न ।

उपनिषद् और अन्न

प्रमुख उपनिषदो मे 'अन्न' शब्द सौ से भी अधिक बार उपलब्ध होता है । महर्षि उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु कों 'सत्' तत्त्व का उपदेश देते हुए बताते है कि, 'सृष्टि के आरम्भ मे 'सत्' ही था — एक, अद्वितीय' ।**सदेव सोम्येदमग्र आसादेकमेवाद्वितीयम्** ।[३] इस सत् रूप चेतन शक्ति ने इच्छा की कि, 'मै एक हूँ बहुत हो जाऊँ ।' फलस्वरूप उसने 'तेज' को रचा ।[४] तेज ने इच्छा की कि, 'मै बहुत हो जाऊँ ।' तब उसने 'जल' को रचा । इसीलिये गर्मी लगने से पसीना आ जाता है । अर्थात् जल तेज से उत्पन्न होता है ।[५] जलो ने इच्छा की कि, 'हम बहुत हो

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ७८

२ वैदिक कोश पृ ६२

३ छा उप ६ २ १

४ वही ६ २ ३

५ वही

जाये। उन्होने 'अन्न' को रचा'। इसीलिये जहाँ कही जल बरसता है, वही प्रभूत अन्न होता है। जल से ही अन्न उत्पन्न होता है।

ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति। ता अन्नमसृजन्त। तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्य जायते।[१] इसीलिये अन्न से जल बडा माना गया है। क्योकि जब वृष्टि अच्छी नही होती तो प्राण यह सोचकर दु खी होते है कि इस बार अन्न थोडा होगा और जब वृष्टि अच्छी होती है तो प्राण यह सोचकर आनन्द मनाते है कि इस बार अन्न बहुत होगा।[२]

पृथिवीरूपा अग्नि मे वर्षा का होम करने से अन्न की उत्पत्ति होती है।[३] पुरुष रूप अग्नि[४] मे अन्न का होम करने से रेतस् की उत्पत्ति होती है। औषधियो से अन्न और अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष की उत्पत्ति होती है।[५]

अन्न वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति।[६]

स्त्रीरूप अग्नि मे वीर्य का होम करने से गर्भ उत्पन्न होता है।इसीलिये जो प्राणी जो अन्न खाता है उसके वीर्य से उस जैसी ही सतान उत्पन्न होती है। पशु पशु को उत्पन्न करता है और मनुष्य मनुष्य को। **यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति**[७]। अन्नमूलक देह का अन्न ही बधन है। **अन्नं दाम**[८]। खाया हुआ अन्न शरीर मे पहुँचकर तीन भागो मे बँट जाता है। उसका स्थूल-तत्त्व विष्ठा-मल बन जाता है। मध्यम-तत्त्व मास बन जाता है।अन्न के सूक्ष्मतम-तत्त्व से मन की निर्मिति होती है। **योऽणिष्ठस्तन्मन**।[९] शरीर मे प्राण का आश्रय भी

---

१ वही ६ २ ४

२ आपो वावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्न कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिन प्राणा भवन्त्यन्न बहु भविष्यतीति। वही ७ १० १

३ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्ष जुह्वति तस्या आहुतेरन्न ँ सभवति। छा उप ५ ६ २

४ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्न जुह्वति तस्या आहुते रेत सम्भवति। वही ५ ७ २

५ ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेत। रेतस पुरुष। तै उप २ १ १

६ प्रश्न उप १ १ ४

७ छा उप ५ १० ६

८ बृह उप-२ २ १

९ छा उप ६ ५ १

अन्न ही है । **प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति**[१] । प्राण के बिना अन्नमय शरीर सड जाता है । उसमे से दुर्गन्ध आने लगती है । **पूयति वा अन्नमृते, प्राणात्**[२] । अन्न के बिना प्राण भी सूख जाते है ।**शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्**[३], क्योकि प्राण तो अन्न का भक्षण करनेवाला है । अत अपने भक्ष्य अन्न के बिना वह स्वय को धारण करने मे समर्थ नही होता है । इसीलिये अन्न के बिना प्राण सूख जाते है । प्राण और अन्न दोनो अन्योऽन्याश्रित है ।अन्न पर ही आयु अवलबित है । बिना अन्न के आयु सभव नही है । **अन्नायुर्वा एष यद्वायुः** ।[४] अत अन्न मे ही सब कुछ स्थित है, ठहरा हुआ है, अर्थात् आश्रित है । **अन्न थमन्ने हीदॅ सर्वॅ स्थितम्** ।[५] प्राण ही अन्न है और शरीर अन्नाद है । अर्थात् शरीर इस प्राण रूपी अन्न का भोक्ता है । प्राण मे शरीर स्थित है और शरीर प्राण मे स्थित है । अत एक अन्न दूसरे अन्न मे प्रतिष्ठित है ।[६] इसलिये अन्न की निन्दा नही करनी चाहिये और न अन्न का अनादर करना चाहिए । **अन्नं न निन्द्यात्**[७] **अन्न न परिचक्षीर्त**[८] । 'जल' भी अन्न है । अग्नि 'अन्नाद' है । 'जल' मे अग्नि प्रतिष्ठित है, 'अग्नि' मे जल प्रतिष्ठित है । अग्निरूप सूर्य जल को अपनी किरणो से सोख लेता है । उसे सोखकर भोगता है । इसलिये अग्नि भोक्ता है जल भोग्य है । अग्नि अन्नाद है, जल अन्न है । अत अन्न, अन्न मे प्रतिष्ठित है । अन्न को बहुत बढाना चाहिये ।उसका पर्याप्त सचय करना चाहिये । पृथिवी अन्न है । आकाश अन्नाद है । पृथिवी आकाश के सहारे है, आकाश पृथिवी के सहारे है । दोनो अन्न एक दूसरे मे प्रतिष्ठित है ।[९]

---

१ वही १८४
२ बृह उप ५१२१
३ वही
४ ऐत उप १३१०
५ छा उप १३६
६ प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीर प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राण प्रतिष्ठित । तदेतन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । तै उप ३७१
७ वही
८ वही ३८१
९ वही ३९१

मनुष्य के पास जो भी अतिथि आये उसे अन्न देने से मना नही करना चाहिये । इसलिये येन केन प्रकारेण मनुष्य को पुष्कल अन्न प्राप्त करना चाहिए । **तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्न प्राप्नुयात्** ।[१] अन्न ही समस्त भूतो मे ज्येष्ठ है । वह सर्वौषध है । **अन्नँ हि भूताना ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते** ।[२] अन्न ही ब्रह्म है । अन्न से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते है । अन्न से ही जीवित रहते है । और अन्न मे ही लीन हो जाते है ।[३] **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्**[४] ।

निर्वचन - १

अद्यतेऽत्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यत इति ।[५]

अर्थात् अन्न खाया जााता है, परन्तु यह खा भी जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि ससार प्राणियो के द्वारा भोगा तो जाता है, परन्तु जो भोगो का, सासारिक भोग विलासो का दास हो जाता है, उसे भोग ही भोग लेते है । इसीलिये कहा गया है कि भोग नही भोगे जाते हम ही भोगे जाते है । **भोगा न भुक्ता वयमेव भोक्ता** । अन्न की यही व्याख्या है — 'अद्यते अत्ति च भूतानि' यह खाया जाता है परन्तु स्वय भी प्राणियो को खा भी जाता है ।इसका तात्पर्य यह है कि अन्न सभी को अपने मे लीन कर लेता है। कैसे ? प्राण के द्वारा ही मनुष्य अन्न खाता है। **अनेनान्नमत्ति** ।अन्न से प्राण तृप्त होते है । ब्रह्माण्ड मे 'वायु' अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल को तथा पिड मे 'प्राण' वाणी चक्षु, श्रोत्र और मन इन चारो को खा जाता है । वायु और प्राण सोने के दॉत वाले है सबको खा जाते है याने कि सब कुछ को अपने भीतर समा लेते है ।[६]अत ब्रह्माण्ड मे 'वायु' और शरीर मे 'प्राण' स्वय न खाये जाते हुए भी जो खाया नही जा सकता उसे भी खा जाते है। **अनद्यमानो यदन्नमत्ति** ।[७] अर्थात् जो 'अनन्न' है उनका 'अदन' याने कि भक्षण करते हैं अर्थात् सबको अपने मे लीन कर लेते है । 'अदन' करने के कारण ही अन्न की अन्न सज्ञा है ।

---

१ वही ३ १० १
२ वही २ २ १
३ अन्नाद् भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते । वही
४ वही ३ २ १
५ वही २ २ १
६ छा उप ४ ३ ७
७ वही

निर्वचन - २

एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं, न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति ।[1]

अर्थात् समस्त अन्नो का भक्षण करने के कारण प्राण का 'अन' यह प्रत्यक्ष नाम है । छादोग्योपनिषद् मे प्राण के अन्न का निर्देश करने के लिये एक आख्यायिका का वर्णन किया गया है । एक बार मुख्य प्राण ने इन्द्रियो से पूछा कि, 'मेरा अन्न क्या होगा ?' तब इन्द्रियो ने उत्तर दिया कि, 'कुत्तो और पक्षियो से लेकर सब जीवो का जो कुछ अन्न है वही तुम्हारा अन्न है' । इसका तात्पर्य यह है कि 'यह जो कुछ अन्न इस लोक मे प्राणियो द्वारा खाया जाता है वह 'अन-प्राण' का ही अन्न है, क्योकि यह प्राण से ही भक्षित होता है ।प्राण का सब प्रकार की चेष्टाओ मे व्याप्तिरूप गुण प्रदर्शित करने के लिये उसका 'अन' यह प्रत्यक्ष नाम है । 'प्र' आदि उपसर्ग पूर्व मे रहने पर उसकी विशेष गति सिद्ध होती है ।अत 'अन' सर्वान्नभक्षी प्राण का साक्षात् नाम है ।'

निर्वचन - ३

वीत्यन्न वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते ।[2]

अर्थात् अन्न हि 'वि' है क्योकि अन्न मे ही समस्त भूत आश्रित है । प्राण 'रम्' है । क्यो ? क्योकि प्राण के रहने पर ही सब भूत रमण करते है ।

अन्न और प्राण रूप ब्रह्मविषयक एक आख्यान बृहदारण्यकोपनिषद् मे मिलता है । कोई कहते है कि 'अन्न ब्रह्म है' । **अन्न ब्रह्मेति** ।[3]अर्थात् अन्न जो खाया जाता है वह ब्रह्म है ।[4] दूसरे कहते है कि, 'प्राण ब्रह्म ' है । **प्राण ब्रह्मेति ।** किन्तु अन्न ब्रह्म है ऐसा क्यो नही समझना चाहिये ? क्योकि प्राण के बिना अन्न सड जाता है, इसमे पानी छूटने लगता है अर्थात् यह पूतिभाव याने कि दुर्गन्ध को प्राप्त हो जाता है । फिर यह कैसे ब्रह्म हो सकता है ? ब्रह्म तो वही हो सकता है जो अविनाशी

---

१ बृह उप ५ २ १
२ वही ५ १२ १
३ शा भा वही
४ बृह उप ५ १२ १

हो । यदि ऐसा है तो ठीक है फिर 'प्राण ही ब्रह्म' है । ऐसा भी सभव नही है । क्यो ? क्योकि अन्न के बिना प्राण सूख जाता है । प्राण तो अन्न का भक्षण करने वाला है । अपने भक्ष्य के बिना वह अपने को धारण करने मे भी समर्थ नही है ।अत अन्न और प्राण दोनो एकीभाव को प्राप्त कर परमभाव को प्राप्त करते है । इसीलिये अन्न को 'वि' और प्राण को 'र' कहा गया ।

अत अन्न समस्त भूतो के आश्रयरूप गुणवाला है और प्राण समस्त भूतो के रतिरूप गुणवाला है । अन्न और प्राण दोनो एकीभाव को प्राप्त करने पर परम ब्रह्म की सज्ञा प्राप्त करते है ।

इस प्रकार इन उपर्युक्त औपनिषदिक निर्वचनो से यह ज्ञात हो जाता है कि अन्न की यही व्याख्या है कि, 'यह खाया जाता है' । इसलिये अन्न कहलाता है । अथवा यह समस्त प्राणियो का भोक्ता होने के कारण अन्न कहलाता है । 'अन' प्राण का परोक्ष नाम है । प्राण और अन्न जब दोनो एकीभूत हो जाते है, तभी परमभाव को प्राप्त करते है ।

अरण्य

शाब्दिक अर्थ

अरण्य शब्द अर्यते शेषे वयसि अत्र इत्यर्थे √ऋ + अन्य से निष्पन्न हुआ है ।[१] इसके शाब्दिक अर्थ है — जगल, वन, कायफल और सन्यासियो का एक भेद ।

उपनिषद् और अरण्य

प्रमुख उपनिषदो मे 'अरण्य' शब्द पॉच बार उपलब्ध होता है ।[२] राजर्षि प्रवाहण जैवलि, महर्षि उद्दालक आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु को 'पञ्चाग्नि विद्या' का उपदेश देते हुए बताते है कि 'जो गृहस्थ इस विद्या को जानते है तथा जो सन्यासी या वानप्रस्थी वन मे श्रद्धायुक्त होकर सत्य (ब्रह्म) की उपासना करते है, वे मृत्यूपरात ज्योति के अभिमानी देवताओ को प्राप्त करते हैं' । **ते य एवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धा॑ सत्युपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति ।**[३]

वानप्रस्थी वन मे रहकर उपासना करते थे । शात-चित्त विद्वान् वन मे रहते हुए भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करते थे । वे वहॉ तप करते हुए श्रद्धापूर्वक रहते थे ।निर्मल और पवित्र चित्त वाले वे मृत्यु के बाद सूर्य द्वार से वहॉ पहुॅचते है जहॉ वह अमृत, अव्यय, पुरुष, ब्रह्म है ।

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचार्या चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।[४]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १२५

२ Concordance p 108

३ बृह उप ६ २ १५ ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते । छा उप ५ १० १

४ मु उप १ २ ११

देवयान ही सूर्यमार्ग है, यही उत्तरायण मार्ग है। ऐसा माना जाता है कि ब्रह्मलोक पृथिवी के उत्तर मे है। जब सूर्य भी पृथिवी के उत्तर मे आ जाता है, तब उत्तरायण-काल मे प्राण त्यागने से जीव सूर्यद्वार से होता हुआ ब्रह्मलोक मे पहुँच जाता है। वानप्रस्थी और सन्यासी 'अरण्य' मे ही रहते थे।

अन्त्येष्टि कर्मसस्कार सम्पन्न करने के लिये मृत पुरुष को गॉव से अरण्य मे ले जाते थे। **प्रेतमरण्यँ हरन्ति**।[१] इससे यह ज्ञात होता है कि उपनिषदयुगीन समाज मे अन्त्येष्टि सस्कार गॉव के अदर करने की परम्परा नही थी। इसका कारण यह रहा होगा कि दाह सस्कार करने की प्रथा भारत मे सदा से रही है। मरने के बाद बन्धु-बान्धव मृत-देह को अग्नि मे रख देते है याने कि जलाते है — यह परम तप माना जाता रहा है। **प्रेतमग्नावभ्यादधति**[२]। अत दाहससकार हेतु मृतक की गॉव से बाहर अरण्य मे ही ले जाते थे। यह पर्यावरण सरक्षण के लिये भी आवश्यक रहा होगा था।

निर्वचन

यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके।[३]

अरण्य शब्द अर + ण्य इन दो शब्दो से मिलकर बना है। छान्दोग्योपनिषद् मे इसका अर्थ है — ब्रह्मलोक जिसमे अर और ण्य ये दो समुद्र है।

'अर' और 'ण्य' से बने हुए अरण्य शब्द का अर्थ है — ब्रह्म को ढूँढने के लिये जगल मे चले जाना। 'अर' तथा 'ण्य' नामक दो समुद्र है। 'उपवसन्ति अरण्ये' के दो अर्थ है। (१) पहला अर्थ यह है कि 'आध्यात्मिक मनुष्यो का जगल मे जाकर बस जाना।' (२) दूसरा अर्थ है कि, 'मस्तिष्क के सहस्रार चक्र मे 'अर' तथा 'ण्य' नामक शक्तियो के दो केन्द्रो ध्यान मे लगाना। ये दोनो केन्द्र शक्ति के मानो समुद्र है। जो लोग ब्रह्मचर्य के द्वारा इन 'अर' और 'ण्य' दोनो समुद्रो को प्राप्त कर लेते है उन्ही को इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। अत औपनिषदिक निर्वचन के अनुसार अरण्य अर + ण्य के योग से बनता है।

---

१ छा उप ५ १११

२ छा उप ५ १११

३ वही ८ ५ ३

अर्क

शाब्दिक अर्थ

अर्क शब्द (पु) अर्च् धातु मे घञ् + कुत्व प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है ।[१] इसके शाब्दिक अर्थ है —स्तुति, अन्न, देव, मन्त्र, अन्न, आदित्य, चक्षु, अग्नि, जीव, परम पुरुष, प्राण, पुरुष प्रकाश की किरण, बिजली की चमक या कौध, स्फटिक, तॉबा, अर्क, वृक्ष, मदार और इन्द्र का नाम है ।[२]

उपनिषद् और अर्क

प्रमुख उपनिषदो मे 'अर्क' शब्द केवल पॉच बार उपलब्ध होता है ।[३] बृहदारण्यकोपनिषद् मे वर्णित है कि 'आप (जल) ही अर्क है । **आपो वा अर्क:**[४] शकराचार्य के अभिमत मे अर्चन (पूजन) का अङ्गभूत होने के कारण, 'जल ही अर्क है' । जल अर्कसज्ञक अग्नि का हेतु है; क्योकि जल मे ही अग्नि प्रतिष्ठित है ।[५]

अग्निरर्क:[६]

अग्नि ही 'अर्क' है । अर्थात् जो पार्थिव अग्नि है, वह साक्षात् क्रियात्मक यज्ञरूप है । यह जो पर्थिव अग्नि अर्क है वही यज्ञात्म का साधनरूप है ।[७] इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ और यज्ञफल अग्निसाध्य है । इसलिये अग्निरूप से ही उसका निर्देश किया गया है ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १२९

२ वैदिक कोश पृ १४७

३ Concordance P 110

४ बृह उप १ २ २

५ शा भा वही

६ बृह उप १२७, शत ब्रा २५१४

७ अर्को य पार्थिवोऽग्नि स साक्षात्क्रतुरुप क्रियात्मक । बृह उप शा. भा वही

आदित्या वा अर्कः[१]

आदित्य ही 'अर्क' है। प्रश्नोपनिषद् मे ऋषि सौर्यायणी गार्ग्य महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न पूछते है कि, 'जब मनुष्य सोता है तब कौन सोते है ?' **कानि स्वपन्ति ?** महर्षि गार्ग्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बताते है कि 'जब सूर्य (अर्क) अस्त होने लगता है, तब सारी किरणे सूर्य के तेजोमण्डल मे एकत्रित हो जाती है। जब वह पुन उदित होता है तो फिर किरणे उसके तेजोमण्डल से निकल-निकलकर दिग्दिन्त मे चल पडती है। इसी प्रकार सुषुप्ति मे (गाढनिद्रा मे) सारी इन्द्रियाँ परमदेव मन मे एकीभूत हो जाती है। मनरूपी सूर्य की इन्द्रियाँ मानो किरणे है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ मन के अधीन है। इसीलिये मन परमदेव माना गया है। सूर्यमण्डल मे किरणो के समान, सुषुप्ति मे इन्द्रियाँ मन मे अभिन्नता को प्राप्त हो जाती है। उदीयमान सूर्यमण्डल से किरणो के समान वे इन्द्रियाँ जागने की इच्छावाले पुरुष के मन से ही पुन प्रसारित हो जाती है अर्थात् अपने-अपने व्यापार के लिये प्रवृत्त हो जाती है। इसीलिये सुषुप्ति मे पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न पकडता है, न आनन्द लेता है, न मूलमूत्र त्यागता है और न चलता है। ऐसी अवस्था मे कहा जाता है कि, 'वह सो रहा है'। अत प्रश्नोपनिषद् के इस मत्र मे अर्क को आदित्य ही कहा गया है।[२]

निर्वचन

सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कँ ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद।[३]

बृहदारण्यकोपनिषद् के अश्वमेध प्रकरण मे अग्नि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए अर्क की यह व्युत्पत्ति दी गई है। इस प्रकरण मे ऋषि ने ब्रह्म की कल्पना मृत्यु के रूप मे की है। मृत्यु रूपी ब्रह्म ने सोचा कि, 'मै आत्मन्वी हो जाऊँ'। फलस्वरूप उसने अर्चना आरम्भ की और अर्चन अर्थात् पूजन करते हुए अपने प्रति ही 'मै कृतार्थ हूँ' इस प्रकार आचरण किया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस प्रकार अर्चना करते हुए उसने परमाणुओ को गति दी। मृत्युरूप ब्रह्म की इस अर्चना से

---

१. शत ब्रा. १० ६.२ ६

२. तस्मै स होवाच यथा गयार्ग्य मरीचयोऽवस्यास्त गच्छता सर्वा एतस्मिस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति ता- पुनः पुर्नुदयत प्रचरन्त्येव ह वे तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति। वही ४ २

३. बृह उप. १ २ १

पूजा के अङ्गभूत रसात्मक आप (जल) उत्पन्न हुए। सत्यव्रत सिद्धातालकार[१] के अभिमत मे 'आप्' का अर्थ यहाँ जल नही अपितु द्रवावस्था के रूप मे प्रकृति है। यह देखकर कि, 'अब उसका शरीर बनने लगा उसे 'कम्' हुआ' अर्थात् सुख हुआ। 'अर्च' का 'अर्' और 'कम्' मिलकर अर् + क' = अर्क बनता है। इसीलिये द्रवावस्था रूप प्रकृति को 'अर्क कहते है, यही 'अर्क' का 'अर्कत्व' है। जो इस प्रकार अर्क के अर्कत्व को जानता है उसे सुख प्राप्त होता है।[२] शकराचार्य के अभिमत मे तो मृत्यु ने ऐसा माना कि अर्चन याने पूजन करते हुए मेरे लिये, 'क' जल हुआ है, इसी कारण से अर्क यानी अश्वमेघ यज्ञ मे अग्नि का अर्कत्व है, अर्थात् यही उसके अर्कत्व मे हेतु है। 'अग्नि' के अर्क नाम की यही व्युत्पत्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि अर्चन से यानी सुख की हेतुभूत पूजा करने से तथा जल का सम्बन्ध होने से अग्नि का (अर्क) 'अर्क' यह गौण याने कि गुणकृत नाम है।[३]

'आप्' और 'अर्क' एक ही है।[४] अर्थात् प्रकृति की द्रवावस्था का नाम 'आप्' है और इसी का नाम 'अर्क' है। आप् अर्थात् द्रवावस्था का जो 'शर' था अर्थात् ऊपर-ऊपर का हिस्सा था, वह महान् अर्थात् कठोर हो गया। जब हम दही बिलोते है तो आधे बिलोये हुए दही मे झाग-झाग आ जाते है वही 'शर' कहलाता है। वह झाग ही बिलोये जाने पर मक्खन के रूप मे ठोस हो जाता है। ऐसे ही 'आप्' का ऊपर का हिस्सा भी जमकर कठोर हो गया, वही पृथिवी बन गया नीचे का हिस्सा तरल होकर 'जल' हो गया। उसमे फिर मृत्यु-रूप ब्रह्म ने श्रम किया। उसके श्रम करने पर और तपने पर उसी के शरीर से उसका सारभूत तेज प्रकट हुआ जिसे अग्नि कहा जाता है। इस प्रकार 'आप्' अर्थात् द्रवावस्था प्रकृति से जल, पृथिवी और अग्नि ये तीन पदार्थ उत्पन्न हो गये।

अत 'अर्क' के इस औपनिषदिक निर्वचन से ज्ञात होता है कि 'अर्क' अग्नि का गुणपरक नाम है।

---

१ एकादशोपनिषद् पृ ६५६

२ एकादशोपनिषद् भाष्य पृ ६५४-६५७

३ बृह उप शा भा १ २ १-२

४ बृह उप १ २ १-२

अशनाय

शाब्दिक अर्थ

अशन शब्द अश् धातु + ल्युट् प्रत्यय जोडने से बना है । इसका अर्थ है— भोजन करने की प्रक्रिया । अशना शब्द का अर्थ है—(अशनम् इच्छति इत्यर्थे अशन + क्यच् + क्विप्) भोजन की इच्छा, भूख । अशनाया (अशनम्) इच्छति इति अशन + क्यच् + स्त्रियॉ भावे अ, टाप्) से बना है । इसका अर्थ है, भूख ।[१]

शकराचार्य के अनुसार अशन (भक्षण) की इच्छा को 'अशना' कहते है । या का लोप करने से अशना शब्द बनता है । वस्तुत यह 'अशनाया' शब्द है ।[२] लोकभाषा मे भी अशनाया शब्द मिलता है अशनाय नही ।

उपनिषद् और अशनाय

प्रमुख उपनिषदो मे 'अशनाय' शब्द केवल एक बार[३] छादोग्योपनिषद् मे मिलता है ।[४] जैसे लोक मे गो (गाय) ले जाने वाले को 'गोनाय' अश्व ले जाने वाले को 'अश्वनाय' और पुरुषो को ले जाने वाले राजा या सेनापति को 'पुरुषनाय' कहते है । उसी प्रकार जल को 'अशनाय' कहते है ।

निर्वचन

तदप आचक्षतेऽशनायेति ।[५]

अर्थात् जल को 'अशनाय' कहते है । पुरुष जो अन्न खाता है, खाये हुए उस स्थूल अन्न को पीया हुआ जल द्रवीभूत करके ले जाता है । इसका तात्पर्य यह है

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १५५

२ अशितुमिच्छाशना या लोपेन । छा उप शा भा ६ ८ ३

३ Concordance **P** 130

४ छा उप ६ ८ ३

५ तत्रापामशितनेतृत्वादशनाया इति नाम प्रसिद्धमित्येतस्मिन्नर्थे । छा उप शा भा वही

कि जल खाये हुए ठोस अन्न को द्रवीभूत कर रसादि रूप से परिणत कर देता है, तभी मनुष्य का खाया हुआ अन्न पचता है ।[१] अत अशित (अश् भोजने) खाये हुए अन्न का नेता ($\sqrt{}$नी प्रापणे) अर्थात् ले जानेवाला होने के कारण जल का अशनाय ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ है ।[२] यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि 'गो' को ले जाने वाले को 'गोनाय ' कहते है फिर अशित अर्थात् खाये हुए अन्न को अन्न के ले जाने वाले को 'अशनाय ' क्यो नही कहते ? इसका कारण यह है कि अशित अर्थात् खाये हुए अन्न को ले जाने के कारण लौकिक पुरुष 'जल' को 'अशनाय' ऐसा विसर्ग का लोप करके कहते है ।' अशनाय को ही अशनाय कहते है । वस्तुत गोनाय की भाँति अशनाय ही ठीक है । परन्तु मुखसुख के कारण लोक मे अशनाय ही अशनाय हो जाता है ।अत औपनिषदिक निर्वचन के अनुसार अशनाय शब्द का अर्थ 'जल' है ।

---

१ वही

२ आप आचक्षते लौकिका अशनायेति विसर्जनीयलोपेन । वही

अश्वमेध

शाब्दिक अर्थ

अश्व (पु) शब्द अश् धातु मे क्वन् प्रत्यय जोडने से निष्पन्न होता है । इसका शाब्दिक अर्थ है — घोडा । अश्व शब्द मे मेध जोडने से अश्वमेध शब्द की निर्मित होती है । इसका शाब्दिक अर्थ है— एक प्रसिद्ध वैदिक यज्ञ जिसमे अश्व की बलि दी जाती थी ।[१]

उपनिषद् और अश्वमेध

प्रमुख उपनिषदो मे 'अश्वमेध' शब्द केवल बृहदारण्यकोपनिषद् मे चार बार प्राप्त होता है ।[२] इस उपनिषद् का आरभ अश्वमेध यज्ञ से ही होता है । औपनिषदिक ऋषि ज्ञात से अज्ञात का वर्णन करते हुए पिड से ब्रह्माण्ड का वर्णन करते थे । जैसे यज्ञशाला मे अश्वमेध यज्ञ होता है वैसे ही विशाल ब्रह्माण्ड मे अश्वमेध-यज्ञ होता रहता है । यह सृष्टिरूप यज्ञ एक विराट् अश्वमेध यज्ञ है ।

अश्व

पिण्ड		ब्रह्माण्ड
अङ्ग	—	देव
सिर	—	उषा
ऑख	—	सूर्य
प्राण	—	वायु
खुला हुआ मुँह	—	वैश्वानर अग्नि
आत्मा	—	सवत्सर
पीठ	—	द्युलोक

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १५८ , वैदिक कोश पृ १८८

२ Concordance p 133

उदर	—	अतरिक्ष लोक
खुर	—	पृथिवी लोक
पार्श्वभाग	—	दिशाये
पसलियॉ	—	अवान्तर दिशाये
अङ्ग	—	ऋतुये
जोड	—	मास और अर्धमास
प्रतिष्ठा (पाद)	—	दिन और रात (अहोरात्र)
अस्थियॉ	—	नक्षत्र
मॉस	—	आकाशस्थित मेघ
ऊवध्य (उदरस्थित अर्धपक्व अन्न)	—	रेतस्
नाडियॉ	—	नदियॉ
यकृत (फेफडे)	—	पर्वत
लोम	—	ओषधि तथा वनस्पति
पूर्वार्ध (नाभि के ऊपर का भाग)	—	उदीयमान सूर्य
उत्तरार्ध (कटि के नीचे का भाग)	—	अस्त होता हुआ सूर्य
जमुहाई लेना	—	बिजली का चमकना
शरीर हिलना	—	मेघ का गर्जन
मूत्र-त्याग	—	वर्षा
वाणी	—	वाणी[१]

अश्व के 'हय', 'वाजी', 'अर्वा' और 'अश्व' ये चार नाम है । यह सृष्टि ही 'हय' अर्थात् हेय है, त्याज्य है । देवगण इस सृष्टिरूपी अश्व पर इसे 'हय' समझकर बैठते है । अर्थात् इसे त्यागना है, यह समझकर इसका भोग करते है । सृष्टि 'वाजी' है । अर्थात् वाजवाली - अन्नवाली याने कि 'भोग्या' है । गन्धर्वगण अर्थात् विलासी लोग इस सृष्टिरूपी अश्व पर इसे वाजी समझकर बैठते है । ससार भोग के लिये

१ एकादशोपनिषद् भाष्य, पृ १५३

ही है, यह समझकर भोग करते है । यह सृष्टि 'अर्वा' है । 'अर्व' अर्थात् वध का स्थान है । हिसा से ही यहाँ काम चलता है ।असुरगण इस सृष्टि रूपी अश्व पर इसे 'अर्वा' समझकर बैठते है और ससार मे सहार द्वारा ही अपनी जीवन-यात्रा चलाते है । यह सृष्टि 'अश्व' है । 'अश्' अर्थात् भोजन मिल जाने का स्थान है । मनुष्यगण इस सृष्टिरूपी अश्व पर इसे 'अश्व' समझकर बैठते है ।पेट भर जाये, जीवन-यात्रा का निर्वाह हो जाये इतने मात्र से सतुष्ट हो जाते है । इस प्रकार देव, गन्धर्व, असुर और मनुष्य इस सृष्टिरूपी विराट् अश्व की हय, वाजी, अर्वा और अश्वरूप मे सवारी करते है ।

निर्वचन - १

ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम् ।[१]

अर्थात् मृत्युब्रह्म ने कामना की कि 'मेरा यह शरीर 'मेध्य' अर्थात् यज्ञिय (पवित्र) हो जाये तथा मै 'आत्मन्वी' अर्थात् शरीर से शरीरवान् हो जाऊँ ।ऐसा विचार कर उसने उसमे प्रवेश किया । क्योकि मृत्युब्रह्म का शरीर उसके वियोग से यशोवीर्यहीन होकर अश्वयत् अर्थात् फूल गया था । इसीलिये इसे 'अश्व' कहते है । 'अश्व' का अर्थ है — बढना, फूलना, क्योकि वह इसे 'मेध्य' याने कि पवित्र करना चाहता था । इसीलिए मृत्यु ब्रह्म के पुन प्रवेश से वह 'यशोवीर्यहीन' और 'अमेध्य' होने पर भी 'मेध्य' हो गया था यही अश्वमेध का 'अश्वमेधत्व' है । जैसे अश्वमेध यज्ञ का 'अश्व' एक वर्ष तक बिना रोक-टोक के विचरण करता है, वैसे ही सृष्टिरूपी अश्व को मृत्युब्रह्म ने बिना रोक-टोक के बढने दिया । परन्तु जैसे एक वर्ष समाप्त होने पर अश्वमेधीय यज्ञ को वापिस लौटा लिया जाता है वैसे ही सवत्सर के बीत जाने पर उस अश्वरूपी सृष्टि को ब्रह्म अपने भीतर ग्रहण कर लेता है, तभी तो एक वर्ष बाद शीत, उष्ण, शरद् और वसन्त का चक्र पुन प्रवर्तमान होता है । सृष्टि मे मानो एक निरन्तर अश्वमेध यज्ञ चल रहा है । अश्वमेध का यही अश्वमेधत्व है ।

निर्वचन - २

एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति ।[२]

---

१ बृह उप १ २ ७

२ वही

अर्थात् यह जो सूर्य तपता है अर्थात् अपने तेज से जगत् को प्रकाशित करता है वही अश्वमेध यज्ञ है। सूर्य का सवत्सर याने कि काल-विशेष आत्मा अर्थात् शरीर है, क्योकि सूर्य के उदय और अस्त होने से दिन-रात होते है तथा उन्ही से सवत्सर बनता है। तपना ही इसका यज्ञ है। अथवा यह 'पार्थिव अग्नि' जिसे 'अर्क' भी कहते है, मानो अश्वमेध कर रही है। तीनो 'लोक' इसके शरीर है। सब 'लोको' मे यह व्याप्त है। 'अश्व' बढने का नाम है, सब लोको मे निहित अग्नि सभी को बढा रही है, यह 'अश्वमेध' ही है। इस प्रकार ये दोनो अर्क-सूर्य तथा अग्नि अश्वमेध ही है। अन्त मे सूर्य आदि देवता मृत्यु ब्रह्म मे एक हो जाते है। अश्वमेध की इस औपनिषदिक निरुक्ति से अश्वमेध यज्ञ के ज्ञानकाडपरक अर्थ का बोध होता है।

असपत्न

शाब्दिक अर्थ

असपत्न शब्द सपत्न का विलोम है। सपत्न (पु) शब्द (सह एकार्थे पतति), पत् धातु + न, सहस्य स, से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ है — शत्रु, वैरी और प्रतिद्वन्द्वी। सपत्न मे नञ् प्रत्यय लगने से असपत्न बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ है — जिसका कोई वैरी, शत्रु या प्रतिद्वन्द्वी न हो।[१]

उपनिषद् और असपत्न

प्रमुख उपनिषदो मे केवल बृहदारण्यकोपनिषद् मे ही 'असपत्न' शब्द एक बार उपलब्ध होता है।[२] बृहदराण्यकोपनिषद् के इस सदर्भ मे प्राण को असपत्न कहा गया है। आदित्य और अग्नि के मिथुन याने कि पारस्परिक सयोग से 'प्राण' उत्पन्न होता है। आधिदैविक रूप से अग्नि 'वाक्' है और आदित्य 'मन' है। मातृस्थानीया अग्निरूपा वाक् और पितृस्थानीय आदित्यरूप मन के परस्पर ससर्ग से प्राण उत्पन्न होता है। द्युलोक के सूर्य और पृथिवी की अग्नि के मेल से वायु प्रकट होता है[३]।

निर्वचन

ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद।[४]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १२१७

२ Concordance पृ १४७

३ अथैतस्य मनसो द्यौ शरीर ज्योतीरूपमसावदित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनँ समैताम्। बृह उप १ ५ १२

४ वही

अर्थात् प्राण ही इन्द्र है । पिड के प्राण को ही ब्रह्माण्ड मे इन्द्र कहते है, वायु कहते है । यह 'असपत्न' है, अर्थात् शत्रुरहित है । असपत्न शब्द का अर्थ है जिसका कोई सपत्न न हो । सपत्न किसे कहते है ? जो प्रतिपक्ष भाव को प्राप्त हो वह दूसरा व्यक्ति (शत्रु) ही सपत्न कहलाता है । अत प्राण ही असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी रहित है । जो व्यक्ति प्राण को असपत्न रूप से जान लेता है उसका कोई सपत्न याने कि शत्रु नही होता है । अत उपर्युक्त निर्वचन से यह ज्ञात हो जाता है कि प्राण असपत्न है ।

आखण

शाब्दिक अर्थ

लौकिक सस्कृत मे आखण के स्थान पर 'आखन' शब्द मिलता है । आखन (पु) आ + खन् धातु + घ से बनता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — खती और कुदाली ।[१]

उपनिषद् और आखण

प्रमुख उपनिषदो मे 'आखण' शब्द केवल दो बार छादोग्योपनिषद् मे ही मिलता है ।[२] आखण शब्द का अर्थ है — पाषाण । इसी उपनिषद् मे देवासुर सबधी एक कथा मिलती है । देव और असुर प्रजापति की सतान थे । देव छोटे थे और असुर बडे थे । दोनो मे परस्पर युद्ध होने लगा । देवताओ ने सोचा कि 'हम उद्गीथ के अनुष्ठान से असुरो को पराजित करेगे ।' उन्होने सबसे पहले वाक् और फिर घ्राण, चँक्षु, श्रोत्र और मन को उद्गीथ अनुष्ठान का उद्गाता बनाया । इन सभी ने उद्गाता बनकर क्रमश उद्गान किया परन्तु असुरो ने इन सभी को पाप से बीध दिया । फलस्वरूप घ्राण सुगन्धि-दुर्गन्धि को, वाणी सत्य-अनृत को, चक्षु दर्शनीय-अदर्शनीय को श्रोत्र श्रवणीय- अश्रवणीय को, मन सकल्पनीय-असकल्पनीय को ग्रहण करने लगा ।अत मे देवताओ ने मुख्य प्राण अर्थात् मुख मे रहने वाले प्राण को उद्गाता बनाया । असुरो ने जैसे ही मुख्य प्राण को पाप से बीधना चाहा वे स्वय नष्ट हो गये ।[३]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १७४

२ Concordance P 157

३ छा उप १ २ १-६

निर्वचन

त॑ हासुरा ऋत्वा विदध्वं सुर्यथाऽश्मानमाखपमृत्वा विध्व॑सेत्[१]

अर्थात् असुरगण प्राण के पास जाकर ऐसे विध्वस्त हो गये जैसे लोक मे आखण-दुर्भेद्य पाषाण के पास पहुँचकर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है । आखण शब्द आ+ खन् धातु विदारणे से निष्पण हुआ है । आखण उसे कहते है जो कुदाली से भी खोदा न जा सके तथा जो टाकियो से छिन्न न किया जा सके । 'अखण' ही 'आखण' है, जिसका अर्थ अभेद्य है । जैसे आखण अर्थात् पाषाण की ओर उसे फोडने के अभिप्राय से फेका हुआ लोष्ट-मिट्टी का ढेला उस का कुछ भी न बिगाड कर स्वय ही नष्ट हो जाता है । वैसे ही प्राण को पाप से बीधने की चेष्टा करने वाले असुर स्वय उससे टकराकर नष्ट हो गये । **यथा लोकेऽश्मानमाखणं न शक्यते खनितु कुद्दालीादिभिरपि न टङ्कैश्चच्छेत्तुं न शक्योऽखण, अखण एव आखणः ।**[२]

अत आखण शब्द के इस निर्वचन से यह ज्ञात होता है कि उस युग मे भी पत्थर खोदकर निकाले जाते थे । पत्थर भी अनेक प्रकार के होते थे । 'आखण' उन्ही पत्थरो की सज्ञा थी जो दुर्भेद्य होते थे ।

---

१ वही १ २ ७

२ शा भा वही

आङ्गिरस

शाब्दिक अर्थ

आङ्गिरस शब्द (पु) आङ्गिरस अपत्यम् इत्यर्थे अङ्गिरस् + अण् से निषपन्न होता है ।[१] इसके शाब्दिक अर्थ है — बृहस्पति, अङ्गिरस ऋषि का पुत्र । अग-अग मे व्याप्त प्राण, लोको मे रस या परम बल रूप से विद्यमान, अथर्ववेद का एक विद्वान् ।[२]

उपनिषद् और आङ्गिरस

प्रमुख उपनिषदो मे 'आङ्गिरस' शब्द आठ बार उपलब्ध होता है[३] । छादोग्योपनिषद् मे आङ्गिरस गोत्रवाले घोर नामक ऋषि का सदर्भ मिलता है ।[४] ऋग्वेद मे घोर आङ्गिरस मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे ।[५] उन्होने देवकी पुत्र कृष्ण को यज्ञदर्शन का उपदेश दिया था। **तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्राय**[६] । बृहदारण्यकोपनिषद् मे महर्षि याज्ञवल्क्य और भुज्यु लाह्यायनि का सवाद मिलता है । भुज्यु न महर्षि से पूछा, 'हे याज्ञवल्यक्य । हम मद्र देश मे अध्ययनार्थ अथवा व्रताचरण करने हेतु 'चरक' अथवा 'अध्वर्यु' होकर विचरण कर रहे थे । घूमते-घूमते हम 'पतञ्चल काप्य' के यहाँ पहुँचे । उनकी पुत्री गन्धर्वगृहीता थी । हमने उस गन्धर्व से पूछा कि 'तुम कौन हो ?' तब उस गन्धर्व ने बताया कि 'मै नाम से सुधन्वा

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १७७

२ वैदिक कोश पृ २२८

३ Concordance P 159

४ घोरो नामत आङ्गिरसो गोत्रत कृष्णाय देवकीपुत्राय शिष्योक्तोवाच ।
छा उप शा भा ३ १७ ६

५ प्राचीन चरित्रकोश, पृ २००

६ छा उप ३ १७ ६

हूँ और मेरा गोत्र आङ्गिरस है ।' हमने पूछा आपने तो दिग्दिगन्त मे भ्रमण किया है, यह बताइये कि 'पारिक्षित कहाँ रहे' ?[१] 'पारिक्षित कहाँ रहे' इस सबध मे उस गधर्व ने हमे सब बाते बता दी । भुज्यु के इस कथन का अभिप्राय यह है कि वे महर्षि याज्ञवल्क्य को यह बताना चाहते थे कि उसने दिव्य जीवो से ज्ञान प्राप्त किया है और वह विद्या सम्पन्न है । अत इस आख्यायिका से यह पता चलता है कि दिव्य गन्धर्वो मे आङ्गिरस गोत्र होता था[२] । बृहदारण्यकोपनिषद् मे 'मधुविद्या' की सम्प्रदाय परम्परा मे[३] और 'याज्ञवल्कीय काण्ड' की वशपरम्परा[४] मे 'अयास्य आङ्गिरस' के सदर्भ उपलब्ध होते है । इसी उपनिषद् मे 'प्राण' की भी आङ्गिरस सज्ञा मिलती है ।

निर्वचन - १

आस्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः ।[५]

अर्थात् यह प्राण आस्य के भीतर है, अत यह अयास्य आङ्गिरस है, क्योकि यहअङ्गो का रस है ।यह प्राण मुख्य है । क्यो ? क्योकि यह मुख मे रहने वाला है । यह मुख्य प्राण कहाँ रहता है ? यह मुख्य प्राण 'आस्य' याने कि मुख के भीतर रहता है । इसीलिये इसे 'अयास्य' कहते है । प्राण को आङ्गिस भी कहते है । प्राण आङ्गिरस क्यो है ? इस विषय मे एक आख्यायिका उपलब्ध होती है । प्रजापति के दो पुत्र थे — देव और असुर । देव छोटे थे और असुर बडे थे । वे दोनो ब्रह्माण्ड मे अर्थात् पृथिव्यादि लोको मे और पिड मे अर्थात् इन्द्रियादि लोको मे अपना आधिपत्य पाने के लिये परस्पर स्पर्धा करने लगे । देवो ने सोचा कि ब्रह्माण्ड तथा पिड तो यज्ञ है फिर क्यो न 'उद्गीथ' द्वारा हम असुरो का अतिक्रमण करे । एतदर्थ सबसे पहले उन्होने 'वाणी' से कहा कि, 'तुम हमारी उद्गाता बनकर उद्गान करो ।' वाणी ब्रह्माण्ड और पिड मे उद्गाता बनकर उद्गान करने लगी । वाणी ने यह तो कह दिया कि मेरे (उद्गान सम्बन्धी) कर्म का फल समस्त देव (इन्द्रियाँ) भोगे परन्तु

---

१ मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद् दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् सुधन्वाङ्गिरस इति । बृह उप ३ ३ १

२ स च गन्धर्व सर्वमस्मभ्यमब्रवीत् । तेन दिव्येभ्यो मया लब्ध ज्ञानम् ।शा भा वही

३ वही २ ६ ३

४ वही ४ ६ ३

५ बृह उप १ ३ ८

वह जो शुभ भाषण करती थी उसे उसने अपने लिये ही रख लिया। असुरो ने उसकी स्वार्थभावना को जान लिया। वे कहने लगे कि देवगण इस उद्‌गाता के द्वारा हमारा अतिक्रमण करेगे। उन्होने वाणी के पास जाकर उसे पाप से बीध दिया। अब वाणी 'अप्रतिरूप' अर्थात् शास्त्र निषिद्ध भाषण भी करने लगी। इसका तात्पर्य यह हुआ की पाप से बिधने पर वहअसभ्यतापूर्ण, बीभत्स और अनृतभाषण भी करने लगी। यही पाप है[१]।

'वाक्' के बाद देवो ने 'घ्राण' से, 'चक्षु' से, 'श्रोत्र' से और 'मन' से क्रमश उद्‌गाता बनने को कहा। जब वे बारी-बारी से उद्‌गान करने लगे तो असुरो ने घ्राण को, चक्षु को, श्रोत्र को और मन को भी क्रमश पाप से बीध दिया। फलस्वरूप 'घ्राण' सुगन्ध के साथ दुर्गन्ध को भी सूँघने लगी। 'चक्षु' अच्छे के साथ-साथ बुरा भी देखने लगे। 'श्रोत्र' अच्छी बातो के साथ बुरी बाते भी सुनने लगे। 'मन' अच्छे सकल्प के साथ बुरे सकल्प भी करने लगा। अत असुरो ने सभी देवो और उनकी प्रतिनिधि इन्द्रियो को पाप से बीध दिया। देवता उन्हे पराजित करने मे सफल नही हुए। अन्त मे देवो ने मुख मे निवास करने वाले 'प्राण' को कहा कि, 'तुम उद्‌गाता बनो।' प्राण ने कहा, 'बहुत अच्छा'। प्राण ब्रह्माण्ड और पिण्ड मे उद्‌गाता बन देवो के लिये उद्‌गान करने लगा। असुरो ने प्राण को भी पाप से बीधना चाहा। परन्तु जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर से टकराकर चूर-चूर हो जाता है वैसे ही असुर भी प्राण से टकराकर नष्ट हो गये। विध्वस होते हुए ढेले की तरह चारो ओर बिखरकर वे नष्ट हो गये। तब देवगण प्रकृतिस्थ हो गये और असुरो का पराभव हुआ[२]। अयास्य प्राण ने, वागादि इन्द्रियो को अग्न्यादि देवभाव से सयुक्त किया। इसी से वह भूतो और इन्द्रियो का आङ्गिरस अर्थात् आत्मा है।[३]

प्राण आङ्गिरस क्यो है ? क्योकि वह कार्य-कारण रूप अङ्गो का याने कि इन्द्रियो का रस (सार) अर्थात् आत्मा है। प्रश्न हो सकता है कि प्राण का अङ्गरसत्व क्यो है ? क्योकि जब प्राण शरीर से निकल जाता है तो शरीर सूख जाता है। **आङ्गिरसोऽङ्गानां रसः।**

---

१ वही १ ३ १-६

२ वही १ ३ ७

३ शा भा वही

निर्वचन -२

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाँ हि रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः प्राणो हि वा अङ्गानाँ रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानाँ रसः ।[१]

प्राणो हि अङ्गानाँ रसः — अर्थात् प्राण ही अङ्गो का रस है । उपर्युक्त निर्वचन मे 'हि' शब्द महत्त्वपूर्ण है । 'हि' शब्द प्रसिद्धि के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । प्राण का ही 'अङ्गरसत्व' प्रसिद्ध है । क्यो ? क्योकि जिस किसी भी अङ्ग से अथवा शरीर से प्राण उत्क्रान्त कर जाता है याने कि निकल जाता है वह अङ्ग 'शुष्क' — नीरस हो जाता है अर्थात् सूख जाता है । अत निश्चय से ही यही प्राण अङ्गो का रस है — आङ्गिरस है । प्राण ही समस्त भूतो और इन्द्रियो की आत्मा है । प्राण-सज्ञक आत्मा की ही आङ्गिरस सज्ञा है ।

---

१ बृह उप १ ३ १९

आदित्य

शाब्दिक अर्थ

आदित्य (पु) शब्द अदिति + ण्य से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है— सूर्य, अदिति का पुत्र, देवता, बारह आदित्य—धाता, मित्र, अर्यमा, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु ।[१]

उपनिषद् और आदित्य

प्रमुख उपनिषदो मे 'आदित्य' शब्द सौ से भी अधिक बार[२] उपलब्ध होता है । छादोग्योपनिषद् मे आदित्य को उद्‌गीथ की सज्ञा दी गई है ।

असौ वा आदित्य उद्‌गीथ[३]

यह आदित्य ही उद्‌गीथ है । परन्तु प्रश्न उठता है कि 'उद्‌गीथ' सज्ञक आदित्य कैसे गमन करता है ? क्योकि आदित्य (सूर्य) मानो 'ओम्' ऐसा उच्च स्वर मे घोष करता हुआ उदित होता है । यह उद्‌गीथ ही प्रणव है, ओम् है[४] । प्रश्न हो सकता है कि आदित्य उद्‌गीथ सज्ञक अक्षर को 'ओम्' इस प्रकार उच्चारण करते हुए कैसे जाता है ? यह आदित्य उदित होता हुआ प्रजाओ के अन्न की उत्पत्ति के लिये उद्‌गान करता है । क्योकि यदि आदित्य आकाश मे देदीप्यमान न हो तो पृथिवी पर व्रीहि और यवादि अन्नो की उत्पत्ति सभव नही है । अत जिस प्रकार उद्‌गाता अन्न के लिये उद्‌गान करता है वैसे ही आदित्य भी पृथिवी पर प्रभूत अन्न उपजाने के लिये उद्‌गान करने के कारण उद्‌गीथ है । इतना ही नही उदित होता

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १८४

२ Concordance 179-183

३ छा उप १ ५ १, २ २० १

४ असौ वा आदित्य उद्‌गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति । वही

हुआ आदित्य रात्रि के अधकार और उससे होने वाले प्राणियो के भय को भी नष्ट करता है । उद्गीथ के तीन अक्षरो उद् + गी + थ मे आदित्य ही प्रथम अक्षर 'उद्' है । 'उद्' का अर्थ है — ऊपर, ऊपर की ओर गति । उदित होता हुआ आदित्य भी आकाश मे ऊपर की ओर गमन करता है । इसीलिये आदित्य की 'उत्' सज्ञा है ।[१] अथवा ऊँचा होने के कारण आदित्य ही 'उत्' है । अग्नि आदि को निगलने के कारण वायु ही ' गी' है और यज्ञकर्म का आश्रय होने से अग्नि ही 'थ' है ।[२]

आदित्यः सामः

साम (समावेद सामगान) मे दो वर्ण है — सा + अम । द्यौ ही ऋक् है और आदित्य 'साम' है । वह यह आदित्यरूप साम द्यौरूप ऋक् मे अधिष्ठित है । जैसे आदित्य का आधार 'द्युलोक' है वैसे साम का आधार 'ऋक्' है । ऋक् मे अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है । ऋक् और साम मे इतनी अभिन्नता है कि द्यौ मानो 'सा' है, और आदित्य अम है । इस प्रकार ये दोनो मिलकर 'साम' है ।[३]

आदित्य ऊकारः

स्तोभाक्षरसबधिनी उपासनाओ के अतर्गत आदित्य 'ऊकार' है ऐसा वर्णित किया गया । 'आदित्य ऊकारो' ।[४] अर्थात् ऊपर की ओर स्थित आदित्य का ही उद्गाता गान करते है । अत ऊकार ही 'स्तोभ' है । आदित्य देवतासम्बन्धी साम मे 'ऊ' स्तोभ है ।

आदित्यः प्रतिहारः

सामगान की पॉच अथवा सात भक्तियॉ है — प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार उपद्रव और निधन । इन पॉच मे ही हिड्कार और ओङ्कार को सम्मिलित करने पर इनकी सख्या सात होती है । सामगान का प्रारम्भ 'हिकार' से होता है । जब गान प्रारम्भ होता है, उसे प्रस्ताव कहते है । गाते हुए उच्च-स्वर मे पहॅुच जाना ही

---

१ अथाधिदैवत य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति । उद्य ॅ्स्तमोभयपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति । वही १ ३ १

२ आदित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थॅ् । वही १ ३ ७

३ आदित्य साम । वही १ ६ ३

४ छा उप १ १३ २

'उद्गीथ' है फिर धीमे स्वर मे आना 'प्रतिहार' है और सामगान की समाप्ति 'निधन' है । लोकविषयक पॉच प्रकार की सामोपासना मे आदित्य 'प्रतिहार' है क्योकि वह प्रत्येक प्राणी के अभिमुख है । शकराचार्य के अभिमत मे, 'सब लोग यह अनुभव करते है कि वह, 'मा प्रति, मा प्रति' अर्थात् 'मेरे सम्मुख' है, 'मेरे सम्मुख' है ।

आदित्यः प्रस्तावः[१]

आवृत्तिकालिक अधोमुख लोको मे जब पञ्चविध सामोपासना की जाती है तब आदित्य 'प्रस्ताव' हो जाता है क्योकि सूर्य के उदित होने पर ही पृथिवीलोक के समस्त प्राणी अपने-अपने कार्यो को करना प्रारम्भ करते है । जैसे ही सूर्य की पहली किरण आकाश मे उदित होती है पृथिवी का अधकार नष्ट हो जाता है और सूर्य उसे देदीप्यमान कर देता है । पक्षी अपने नीड से निकलकर उन्मुक्त आकाश मे विचरण करने लगते है । पशु भी चरने के लिये चारागाहो की ओर निकल पडते है । किसान अपने कधे पर हल रखकर खेतो मे चले जाते है । स्त्रियॉ और बच्चे भी क्रियाशील हो जाते है । सम्पूर्ण पृथिवी के प्राणियो को सूर्य का आगमन कर्मशील बना देता है ।[२] अत आदित्य प्रस्ताव है ।

आदित्य और बृहत्साम

बृहत्सामोपासना मे उदीयमान सूर्य 'हिकार' है ।उदित हुआ सूर्य कर्मो के प्रस्तवन का हेतु होने के कारण 'प्रस्ताव' है । उदित प्रस्ताव[३] । मध्याह्ण कालीन सूर्य उत्कृष्ट होने के कारण 'उद्गीथ' है । पशु आदिको चारागाहो से घरो की ओर ले जाने के कारण अपराह्ण सूर्य 'प्रतिहार' है । अस्त हुआ सूर्य 'निधन' है क्योकि वह रात मे सम्पूर्ण प्राणियो को अपने-अपने घरो मे निहित कर देता है । अत बृहत्साम आदित्य-सूर्य मे स्थित है क्योकि बृहत् का सूर्य ही देवता है ।[४] आदित्य का यह पचविध बृहत्साम है ।

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु

---

१ आदित्य प्रस्ताव । वही २ २ २

२ उदिते ह्यादित्ये प्रस्तूयन्ते कर्माणि प्राणिनाम् । शा भा वही

३ वही २ १४ १

४. उद्यन्हिकार उदित प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्ण प्रतिहारोऽस्तयन्निधनमेतद्बृहदादित्येप्रोतम् । वही

ॐ यह आदित्य निश्चय ही देवताओ का मधु है । अर्थात् देवताओ को प्रसन्न करनेवाला होने से वह आदित्य मधु है । जैसे मधु अत्यन्त मीठा होता है वैसे ही सूर्य की मधुरता है । सूर्य की मधुरता आदित्य-ब्रह्मचर्य का प्रतीक है । मधुकर के मधु के समान इस मधु का द्युलोक ही तिरछा बॉस है क्योकि द्युलोक तिरछा ही दिखाई देता है । अतरिक्ष मधु का छत्ता है । वह द्युलोकरूपी बॉस मे मानो लटकता रहता है । मधुरूप सूर्य का आश्रय होने से भी अतरिक्षलोक ही मधु का छत्ता है । स्वराट् अर्थात् स्वय-प्रकाश सूर्य की जो किरणे है, वे निश्चय ही जल है , क्योकि सूर्य अपनी किरणो से ही पृथिवी के जलाशयो के जल को खीचता है । वह सूर्यरश्मिस्थ जल भ्रमरपुत्रो के सम्मान पुत्ररूप है, क्योकि छत्ते के छिद्रो मे ही भ्रमरपुत्र रहते है । अत सूर्य के चारो तरफ फैली हुई किरणे ही मधुमक्खियो के बच्चे है ।[१]

मधु के आश्रयभूत उस सूर्यरूप मधु की जो पूर्वदिशागत किरणे है वे ही इस (अन्तरिक्षरूप छत्ते) के पूर्वदिशावर्ती छिद्र है । ऋचाये मधुमक्खियॉ है ।ऋग्वेद पुष्प है । मधुमक्खियॉ पुष्प के जिस रस को चूसती है, वह रस ऋचाओ का अमृतमय रस है । जैसे पुष्पो को तपाने से इत्र निकलता है वैसे ही ऋचाओ ने ऋग्वेद का अभिताप किया । उस अभितप्त ऋग्वेद से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ ।[२] वह रस झरा । झरकर उसने आदित्य का आश्रय लिया । आदित्य का जो रोहित-लाल रूप है वही रस है ।[३] आदित्य की दक्षिण दिशा की किरणे छत्ते की दक्षिण दिशावर्तिनी मधुनाडियॉ है, यजुर्वेद के मत्र ही मधुमक्खियॉ है, यजुर्वेद पुष्प है, मधुमक्खियॉ पुष्प के जिस रस को चूसती है वह रस यजुर्वेद के मत्रो का अमृतमय रस है । आदित्य का जो शुक्लरूप है वह इस रस का रूप है ।[४] आदित्य की पश्चिम दिशा की किरणे छत्ते की पश्चिमदिशा की मधुनाडियॉ है, साममत्र

---

१ ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवॅ्शोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचय पुत्रा । वही ३ १ १

२ तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्य । ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्प ता अमृता आपस्ता वा एता ऋच । वही ३ १ २-३

३ वही ३ १ ४

४ वही ३ २ १-३

ही भ्रमरियाँ है, सामवेद पुष्प है । भ्रमरियाँ जिस रस को चूसती है, वह रस साम की गीतिकाओ का अमृतमय रस है । आदित्य का जो कृष्ण रूप है, वह इस रस का ही रूप है ।[१] आदित्य की उत्तरदिशा की किरणे छत्ते की उत्तरदिशा की मधुनाडियाँ है, अथर्वाङ्गिरस श्रुतियाँ ही भ्रमरियाँ है । इतिहासपुराण पुष्प है, भ्रमरियाँ पुष्प के जिस रस को चूसती है, वह रस इतिहासपुराण का अमृतमय रस है । आदित्य का जो परम कृष्ण रूप है, वह इस रस का ही रूप है ।[२] आदित्य की ऊपर की जो किरणे है, वे छत्ते के ऊपर की दिशा की मधुनाडियाँ है, गुरु के गुह्य आदेश ही भ्रमरियाँ है, ब्रह्म पुष्प है, भ्रमरियाँ पुष्प के जिस रस को चूसती है, वह रस ब्रह्मज्ञान का अमृतमय रस है ।[३] वह रस जब झरा तब उसने आदित्य का आश्रय लिया । वह रस आदित्य के चारो और एकत्रित हो गया । आदित्य-सूर्य के मध्य मे जो चचल सा, हिलता -डुलता सा दिखाई देता है वही मधु है ।[४]

आदित्यो ब्रह्म

यह 'आदित्य' सब प्राणियो को मधु-समान प्रिय है । आदित्य को सब प्राणी मधुसमान प्रिय है । आदित्य मे जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्माण्ड का 'आत्मा' है । शरीर मे जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि -रूप पिड का 'आत्मा' है । 'आत्मा' ही अमृत है । आत्मा ही ब्रह्म है । यही 'सर्व' याने कि सब कुछ है ।[५] आदित्य ही ब्रह्म है । 'आदित्यो ब्रह्म'[६] । अत उपनिषदो मे आदित्य को उद्‌गीथ साम, उकार, प्रतिहार, प्रस्ताव, बृहत्साम, देवमधु और ब्रह्म कहा गया है ।

---

१ वही ३ ३ १-३

२ वही ३ ४ १-३

३ वही ३ ५ १-२

४ तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ।
वही ३ ५ ३

५ अयमादित्य सर्वेषा भूताना मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु
यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमय पुरुषो यश्चायमध्यात्म
चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमय पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिद बृह्मेद्॑ सर्वम् ।
बृह उप २ ५ ५

६ वही ३ १९ १

निर्वचन-१

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदँ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदँ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ।[१]

महर्षि शाकल्य ब्रह्मनिष्ठ महर्षि याज्ञवल्क्य से देवताओ की सख्या के विषय मे प्रश्न करते है । याज्ञवल्क्य उन्हे बताते है कि आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य — ये इकतीस देवगण है । इन्द्र और प्रजापति के साथ ये तैतीस हो जाते है । महर्षि शाकल्य आदित्यो के विषय मे प्रश्न करते हुए पूछते है कि 'कतम आदित्या इति ?' अर्थात् आदित्य कौन है ? महर्षि याज्ञवल्क्य उत्तर देते है कि, 'बारह मास सवत्सररूप काल के अवयव प्रसिद्ध है — वे ही बारह आदित्य है । ये बारह मास 'आदित्य' कैसे है ? क्योकि ये बारह मास ही पुन परिवर्तित होते हुए प्राणियो की आयु और कर्मफल का आदान-ग्रहण करते हुए चलते है । वे चूँकि सबका आदान करते हुए चलते है, इसलिये 'आददाना यन्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आदित्य कहलाते है ।

निर्वचन - २

प्राणा वावादित्या एते हीदँ सर्वमाददते ।[२]

छादोग्योपनिषद् मे आत्मयज्ञोपासना का वर्णन करते हुए बताया गया है कि पुरुष जीवन ही मानो 'एक यज्ञ' है । सोम यज्ञ के तीन समय होते है — प्रात, मध्य और तृतीय । प्रत्येक समय को 'सवन' कहते है ।[३] प्रात सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन । प्रात सवन मे २४ अक्षरो का 'गायत्री' छन्द, माध्यन्दिन सवन मे ४४ अक्षरो का 'त्रिष्टुप्' छन्द और तृतीयसवन मे ४८ अक्षरो का 'जगती' छन्द प्रयुक्त होता है । इन तीनो के देवता क्रमश वसु, रुद्र और आदित्य है । प्राण ही वसु है । प्राण ही रुद्र है और प्राण ही आदित्य है ।[४]

प्राण को आदित्य इसलिये कहते है क्योकि जैसे आदित्य सबको लिये हुए है, पकडे हुए है याने कि धारण किये हुए है वैसे ही प्राण समस्त वागिन्द्रियादि को पकडे हुए है, धारण किये हुए है । आपातत यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि प्राण शरीर को कैसे धारण करता है ? इस विषय मे एक आख्यायिका प्रश्नोपनिषद्

---

१ वही ३ ९ ५

२ छा उप ३ १६ ५

३ वही ३ १६ १-४

४ वही ३ १६ ५ प्रश्न उप १ ५

मे मिलती है । एक बार की बात है कि वाणी, मन चक्षु तथा श्रोत्र एक दूसरे से झगडने लगे और कहने लगे कि हम पिण्ड अर्थात् देह को धारण कर रहे है ।इन्हे परस्पर झगडते हुए देखकर सर्वश्रेष्ठ प्राण ने कहा — तुम सब अज्ञान को प्राप्त मत करो । मोह मे मत पडे रहो । मै ही अपने आपको प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पॉच भागो मे बॉटकर— इस वाण रूप जड-चेतन जगत को ऐसे धारण कर रहा हूँ जैसे छप्पर को बल्ली धारण किये रहती है । पॉचो इन्द्रियो ने 'प्राण' की इस बात पर अश्रद्धा व्यक्त की । फलस्वरूप प्राण भी अपने अभिमान को रोक न सका । वह भी शरीर से उत्क्रमण करने लगा । जैसे ही वह शरीर से निकलने लगा इन्द्रियॉ भी शरीर मे स्थिर नही रह सकी । वे भी बाहर निकलने लगी । जब प्राण शरीर मे ठहर गया तो वे सब भी ठहर गई ।[१] अत आदित्य ही प्राण है । 'आदित्यो ह वै प्राण ।'[२] अत वागिन्द्रयादि को ग्रहण करने के कारण ही प्राण को आदित्य कहा गया है ।

आदित्य के उपर्युक्त औपनिषदिक निर्वचनो से यह ज्ञात हो जाता है कि सवत्सर के बारह मास और प्राण सबको ग्रहण करने के कारण आदित्य कहलाते है ।

---

१ प्रश्न उप २ १-३, बृह उप १-३, ३-१

२ वही १ ५

आयास्य

शाब्दिक अर्थ

कोशग्रन्थो से ज्ञात होता है कि लौकिक सस्कृत मे आयास्य शब्द उपलब्ध नही होता है ।[१]

उपनिषद् और आयास्य

प्रमुख उपनिषदो मे 'आयास्य' शब्द मात्र एक बार छान्दोग्योपनिषद् मे मिलता है ।[२] आयास्य नाम के ऋषि थे । आयास्य ऋषि ने प्राण के रूप मे ही उद्गीथ की उपासना की थी । लोक मे प्राण को ही आयास्य माना जाता है ।

निर्वचन - १

तेन त ँ्हायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ।[३]

'अस्य' याने कि मुख से निकलने के कारण प्राण की 'आयास्य' सज्ञा है । आयास्य ऋषि ने प्राणरूप होकर प्राणमय उद्गीथ की उपासना की थी ।

निर्वचन - २

अयमास्येऽन्तरिति सोऽयास्य ।[४]

बृहदारण्यकोपनिषद् मे 'आयास्य' के स्थान पर 'अयास्य' शब्द मिलता है । यहाँ यह अङ्गिरस ऋषि का विशेषण है 'आस्य' अर्थात् मुख के भीतर रहने के कारण 'प्राण' ही 'अयास्य' है ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ

२ Concordance p 193

३ छा उप १ २ १२

४ बृह उप १ ३ ८

यही अयास्य प्राण शरीर के समस्त अङ्गो का रस होने के कारण 'आङ्गिरस' कहलाता है । अत प्राण की ही 'अयास्य आङ्गिरस' सज्ञा है । अत उपर्युक्त निर्वचन से ज्ञात होता है कि मुख मे रहने के कारण ही प्राण की 'आयास्य और 'अयास्य' सज्ञाये हुई ।

इन्द्र

शाब्दिक अर्थ

इन्द्र शब्द (वि) इन्द्र धातु मे र् प्रत्यय जोडने पर निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — ऐश्वर्यवान्, विभूतिसम्पन्न, श्रेष्ठ । (पु) देवताओ का राजा, मेघो का राजा, वृष्टि का राजा, स्वामी, प्रभु, शासक, वैदिक देवता विशेष ।[१]

वैदिक कोश के अनुसार इन्द्र के अनेक अर्थ है — (१) 'इरा दृणाति' अर्थात् अन्न को पानी वरण कर अकुरित करता है । (२) 'इरा ददाति' अर्थात् अन्न देता है । (३) 'इरा दधाति' अर्थात् अन्न धारण करता है । (४) 'इरा दास्यति' अर्थात् अन्न दरवाता है । (५) 'इरा धारयते अर्थात् अन्न धारण करवाता है । (६) 'इराद ' अर्थात् अन्न देनेवाला है । (७) इराध अर्थात् इरा धारण करनेवाला है । (८) इरा अर्थात् मेघ का विदारण करनेवाला है । इरा + दृ' अथवा 'दा' या 'धा' + रक् से इन्द्र शब्द बनता है ।(९) 'इन्दवे द्रवति' । अर्थात् इन्द्र सोम पीने के लिये आता है । 'अमृतेन सर्वस्य क्लेदयति' अर्थात् इन्द्र अमृत से सभी को तृप्त करने वाला चन्द्रमा है (१०) 'इन्द्रौ रमते' अर्थात् सोम मे रमता है । इन्द्ररम = इन्द्र । (११) 'इन्ध' (दीप्ति अर्थ मे) + रक् = इन्ध्र = इन्द्र । अर्थात् जीवो को अन्नोत्पत्ति द्वारा दीप्त करता है । (११) 'तत् यत् एन प्राणै समैन्धन् तत् इन्द्रस्य इन्द्रत्वम्' अर्थात् जो प्राणो से दीप्त किया वह इन्द्र का इन्द्रत्व है । (१२) 'इद करणात्' अर्थात् 'इद सर्वम् असौ अकरोत्', यह सब इसने किया । इदकर, इन्द्र परमात्मा । (१३) 'इद दर्शनात्' — 'इद सर्व असौअद्राक्षीत्' अर्थात् वह सब इसने देखा । इददर्शी ' इन्द्र - ईश्वर (१४) इद् + शत् = इन्दन् = ईश्वर, इन्द्र ऐश्वर्य अर्थवाला है । (१५) इन्दव - शत्रुणा दारयिता अर्थात् ऐश्वर्यवान् हो शत्रुओ का दारण करनेवाला है अथवा द्रावयिता-

---

१. शब्दार्थ कौस्तुभ पृ २१५

द्रवित करनेवाला है । अथवा 'यज्वनाम् आदरयिता' अर्थात् यजमानो का आदर करनेवाला है । (१६) इन्द्र के अनेक अर्थ है — ईश्वर, जीवात्मा, राजा, विद्वान्, आचार्य ऐश्वर्य, सेनापति, राष्ट्र, सूर्य, पुत्र, चन्द्रमा, जल से आर्द्र मेघ, जीव, ओषधिगण, परमात्मा, भूमि मे जल देनेवाला, भूमि को हल से विदारण करनेवाला कृषक, अन्नो को काटने वाला, धारण करनेवाला, अन्नो को देने वाला, ऐश्वर्यवान् प्रभु ।[१]

उपनिषद् और इन्द्र

प्रमुख उपनिषदो मे 'इन्द्र' शब्द लगभग इकतीस बार मिलता है ।[२] **'इदन्द्र'** इन्द्र का नाम है ।[३] इन्द्र ब्रह्म है । **एष ब्रह्मैष: इन्द्र:** ।[४] इन्द्र मघवन् है । **अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि** ।[५] **स्तनयित्नु:** अर्थात् विद्युत् ही इन्द्र है ।[६] इन्द्र का इन्ध नाम है । **इन्धो ह वै नामै** ।[७] प्राण ही अपने तेज से इन्द्र अर्थात् सकलैश्वर्यसम्पन्न है । **इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा** ।[८] प्राण की सज्ञा इन्द्र है और वह असपत्न है अर्थात् शत्रुरहित है ।[९] तैतीस देवताओ मे इन्द्र को भी परिगणित किया गया है । **इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिँशाविति** ।[१०] इन्द्र माया के द्वारा विभिन्न रूपो को धारण करता है । **इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते ।**[११] इन्द्र सभी देवताओ से अधिक दीप्तिमान् क्योकि सबसे पहले उन्हे ही ब्रह्मज्ञान हुआ था ।[१२] सम्पूर्ण स्वर इन्द्र की आत्मा है । **सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मन: ।**[१३] इन्द्र का कर्म 'बल' है । सारे स्वर

---

१ वैदिक कोश पृ २८३-४
२ Concordance p 209
३ ऐत उप ३ १४
४ वही ५ ३
५ केन उप २४
६ बृह उप ३ ९ ६
७ वही ४ २ २
८ प्रश्न उप २ ९
९ बृह उप १ ५ १२
१० वही ३ ९ २
११ वही २ ५ १९
१२ तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठ
पस्पर्श स ह्यनेत्प्रथमोविदाञ्चकार ब्रह्मेति । केन उप ४ ३
१३ छा उप २ २२ ३

घोषयुक्त और बलयुक्त उच्चारण किये जाने चाहिये । **सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बल ददानीति ।**[१]

निर्वचन-१

तस्माददिन्द्रो नाम इदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः[२] **।**

अर्थात् लोक मे ईश्वर 'इदन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है । 'इदन्द्र' नाम क्यो है ? क्योकि जो इसे देखता है वह परमात्मा 'इदन्द्र' नामवाला है । वह किसे देखता है ? यह प्रश्न होने पर बताया जाता है कि 'विधाता ने याने कि स्रष्टा ने सर्वसुन्दर पुरुष अर्थात् मानव शरीर की रचना की । अग्नि ने वाणी बनकर मुख मे, वायु ने प्राण बनकर नासिका-रन्ध्रो मे, सूर्य ने चक्षु-इन्द्रिय होकर नेत्रो मे, दिशाओ ने श्रोत्रेन्द्रिय होकर कानो मे, ओषधि-वनस्पतियो ने लोम होकर त्वचा मे, चन्द्रमा ने मन होकर हृदय मे, मृत्यु ने अपान होकर नाभि मे तथा जल ने वीर्य होकर लिङ्ग मे प्रवेश किया ।[३]' परमात्मा ने विचार किया कि यह पिण्ड-शरीर मेरे बिना कैसे रहेगा ? शरीर तो जड है । इसे क्रियाशील बनाने के लिये उसने उस शरीर मे प्रवेश किया, क्योकि उसने सोचा यदि मेरे बिना ये सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने मे समर्थ हो जाये तो मेरा क्या प्रयोजन है ? परन्तु यह सभव नही, क्योकि चेतन के बिना जड कर्मशील नही हो सकता । अत ब्रह्म ने इस शरीर की सीमा-मूर्द्धा को ही विदीर्ण कर उसमे प्रवेश किया । विदीर्ण करने के कारण ही उस द्वार का नाम 'विदृति' हुआ । यह द्वार नान्दन-आनन्दप्रद है । जीवात्मा जब शरीर मे रहता है तो तीन आवसथो — उत्तम आवसथ, मध्यम आवसथ और निकृष्ट आवसथ मे रहता है । तीन स्थानो (आवसथों) मे रहता हुआ वह तीन अवस्थाये उत्पन्न कर देता है । वे अवस्थाये है— जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति । ये तीनो अवस्थाये 'स्वप्न' ही है ।[४] क्यो ? क्योकि इन तीनो अवस्थाओ मे जीव अविद्या के कारण गाढ निद्रा मे सोया रहता है । जब तक ब्रह्मसाक्षात्कार नही हो जाता तब तक जीव मानो सोया हुआ ही होता है ।

---

१ वही २ २ २ ५
२ ऐत उप १ ३ १ ४
३ वही १ २ ४
४ वही १ ३ १ २

जीवभाव से शरीर मे प्रवेश करके परमात्मा भूतो को तादात्म्यरूप से ग्रहण करता है । जब परम कारुणिक गुरु, उस जीव के कान मे आत्मज्ञान का बोध कराने वाले महावाक्य — 'तत्त्वमसि', 'अह ब्रह्मास्मि' और 'सर्व खलु इद ब्रह्म' बोलता है, तब 'पुर' मे शयन करने वाले आत्मा को आकाश के समान परिपूर्ण महान् ब्रह्मरूप से वह जान लेता है अर्थात् साक्षात्कार कर लेता है । फलस्वरूप वह कह उठता है कि, 'अहो ! मैने अपने आत्मा के स्वरूप को ही इस ब्रह्मरूप से देखा है' । 'इदम् + अदर्शम्' अर्थात् मैने यह देख लिया है ।[१]

इदम् + अदर्शम् का अर्थ है यह देख लिया है' । इसमे 'इदम्' के साथ अदर्शम् का 'द + र' जोडने से 'इदम् + द + र' बन गया । इसीलिये उसे 'इदन्द्र' कहते है । वस्तुत 'इदन्द्र' शब्द है । इसी के बीच का 'द' हटाकर 'इन्द्र' बन जाता है । इस प्रकार 'इदन्द्र' होने पर भी ब्रह्मवेत्ता व्यवहार के लिये उसे 'इन्द्र' इस परोक्ष नाम से पुकारते है । पूज्यतम होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नाम लेने मे उन्हे भय लगता है । देवता भी 'परोक्षप्रिय' है क्योकि वे रहस्यमयी भाषा को ही पसद करते है । देवता अदृश्य, अव्यक्त वस्तुओ मे प्रीति रखनेवाले है ।[२] अत 'इदन्द्र' का ही 'इन्द्र' परोक्ष नाम है ।

निर्वचन - २

इन्धो ह वै नामैष योऽय दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्ध्ँ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षोप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः[३] ।

अर्थात् यह जो दक्षिण नेत्र मे पुरुष है, इन्धनामवाला है । 'इन्धो ह वै नाम' । दीप्तिगुणवाला होने से इसका 'इन्ध' यह प्रत्यक्ष नाम है ।[४] उसी इस पुरुष को 'इन्ध' होते हुए भी परोक्ष रूप से 'इन्द्र' कहते है । क्योकि देवगण तो परोक्षप्रिय है । प्रत्यक्ष द्वेषी है । अर्थात् प्रत्यक्ष नाम ग्रहण से द्वेष करने वाले है ।

उपर्युक्त औपनिषदिक निर्वचनो से यह ज्ञात होता है इन्द्र यह शब्द 'इदन्द्र' और 'इन्ध्' से व्युत्पन्न है ।

---

१ वही १ ३ १ ३

२ वही १ ३ १ ४

३ बृह उप ४ २ २

४ दीप्तिगुणत्वात् प्रत्यक्षं नाम अस्येन्ध इति, तमिन्ध सन्तमिन्द्र इत्याक्षते । बृह उप शा भा वही

उक्थ

शाब्दिक अर्थ

उक्थ शब्द (न) वच् धातु + थक् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — स्तोत्र, सामवेद का प्रधान अग, महाव्रत नामक यज्ञ, प्राण, ऋषभ नामक औषधि एव मन्त्र' ।[१]

उपनिषद् और उक्थ

प्रमुख उपनिषदो मे 'उक्थ' शब्द केवल सात बार उपलब्ध होता है ।[२] छान्दोग्योपनिषद् मे आदित्यान्तर्गत और नेत्रान्तर्गत पुरुषो को अभिन्न बताते हुए कहा गया है कि, 'यह जो नेत्रो के मध्य पुरुष दिखाई देता है वही 'ऋक्' है, वही 'साम' है, वही 'उक्थ' है, वही 'यजु' है और वही 'ब्रह्म' है ।[३]'उक्थ' का सहचारी होने से 'स्तोत्र' ही 'साम' है । 'उक्थ' से भिन्न जो शस्त्र अर्थात् मन्त्र-विशेष है, वे ही 'ऋक्' है, तथा स्वाहा, स्वधा और वषट् आदि सम्पूर्ण वाक्य 'यजु.' है । सब का कारण और सर्वात्मक होने के कारण वह यजु स्वय पुरुष ही है । इस नेत्रस्थ पुरुष का वही रूप है जो आदित्यान्तर्गत पुरुष का है ।[४] नेत्रस्थ पुरुष को 'उक्थ' की सज्ञा दी गई हैं । शुष्क भृङ्गार ऋषि के अभिमत मे 'उक्थ' ही ब्रह्म है । **उक्थं ब्रह्मेति ह स्माह शुष्क भृङ्गारः**[५] की सज्ञा दी गई है ।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार प्राण ही 'उक्थ' है । उक्थ शस्त्र अर्थात् मन्त्रविशेष है । वही महाव्रत क्रतु मे प्रधान होता है । जैसे प्राण समस्त इन्द्रियवर्ग

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ २२१

२ Concordance p 219

३ अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थ तद्यजुस्तद् ब्रह्म । छा उप १ ७ ५

४ उक्थ साहचर्याद्वा स्तोत्र साम ऋक् शस्त्रमुक्थादन्यत् । छां उप शा भा. वही

५ कौ उप २ ६

मे प्रधान है वैसे ही 'उक्थ' शस्त्रो मे प्रधान है। प्राण ही 'उक्थ' है ऐसी उपासना करनी चाहिये। प्राण ही आयु है और आयु प्राण है।[१] जब तक शरीर मे प्राण रहते है तब तक आयु होती है। प्राणो के द्वारा ही मनुष्य इस ससार मे अमरत्व प्राप्त करता है। इन्द्रियवर्ग के बिना शरीर जीवित रह सकता है। कैसे ? जैसे नेत्रो के बिना अधा व्यक्ति, श्रोत्र के बिना बहरा व्यक्ति, वाणी के बिना गूँगा व्यक्ति, मन के बिना बालक के समान व्यक्ति और रेतस् के बिना नपुंसक व्यक्ति जीवित रह सकता है।[२] परन्तु प्राणो के बिना वह जीवित नही रह सकता। प्राण ही शरीर को उत्थापित करते है, मानो उठाते है। इसलिये प्राण की उक्थ रूप मे उपासना करनी चाहिये।

अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थपयति तस्माद् एतद् एवोक्थम् उपसीत।[३]

निर्वचन

उक्थं प्राणो वा उक्थ प्राणो हीदँ सर्वमुत्थापयति।[४]

अर्थात् प्राण ही 'उक्थ' है। कैसे ? प्राण ही सबको उत्थापित करते है याने कि उठाते है। शरीर इन्द्रियवर्ग के बिना जीवित रह सकता है। परन्तु प्राणो के बिना कोई भी जीवित नही रह सकता है। समस्त इन्द्रियवर्ग प्राण के शरीर मे रहते हुए ही क्रियाशील होता है। प्राण ही सबको उठाता है। अत उठाने के कारण ही प्राण 'उक्थ' है। प्राणवान् व्यक्ति ही उठ सकता है। प्राणहीन व्यक्ति मे उठने की सामर्थ्य नही रहती है। जब प्राण शरीर से निष्क्रमण करने लगता है तो जैसे सिन्धुदेशीय महान् अश्व पैर बॉधने के खूँटे को उखाड डालता है वैसे ही वह (प्राण) इन्द्रियो को स्थानच्युत करने लगता है। अत शरीर को उठाने एव इन्द्रियो को क्रियाशील करने के कारण प्राण की 'उक्थ' सज्ञा है।

---

१ आयु प्राण प्राणो वा आयु ,यावद्ध हि अस्मिन्शरीरे प्राणो वसति तावद् आयु प्राणेन हु एवास्मिन्लोकेऽमृतत्वम् आप्नोति। वही ३ २

२ जीवति वागोपेतो मूकान् हि पश्याम जीवति चक्षुरोपेतोऽन्धान् हि पश्याम जीवित श्रोत्रोपेतो बधिरान् हि पश्याम ,जीवति मनोपेतो बालान् हि पश्याम जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुछिन्न इत्येव हि पश्याम इति। वही ३ ३

३ वही

४ बृह उप ५ १३ १

उदन्या

शाब्दिक अर्थ

'उदन्या' शब्द (स्त्री) उदक + क्यच् नि उदन् आदेश + अङ् + टाप् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — प्यास और तृषा ।[१] वैदिक कोश के अनुसार इसका अर्थ है — जलसम्बन्धी ।[२]

उपनिषद् और उदन्या

प्रमुख उपनिषदो मे 'उदन्या' शब्द केवल एक बार छान्दोग्योपनिषद् मे उलब्ध होता है ।[३] लोक मे जैसे गाय ले जानेवाले को 'गोनाय' (ग्वाला), अश्व ले जानेवाले को 'अश्वनाय (साईस) और पुरुष ले जानेवाले को 'पुरुषनाय' (सेनापति) कहते है वैसे ही पीये हुए जल को ले जानेवाले तेज को 'उदन्या' कहते है ।

निर्वचन

तेज एव तत्पीत नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति ।[४]

महर्षि उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को 'सत्' तत्त्व का उपदेश देते हुए पूछते है कि 'जिस समय मनुष्य प्यासा (पिपासति) होता है और वह पानी पीना चाहता है तो इसका क्या कारण होता है ? इसक कारण यह है कि जो जल मनुष्य पीता है, उस पीये हुए जल को तेज सुखा देता है । क्योकि अग्नि ही जल को सुखाने मे समर्थ है । इसका तात्पर्य यह है कि तेज ही उसे रक्त एव प्राणरूप मे परिणत कर

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ २३५

२ वैदिक कोश पृ ३१५

३ Concordance P 228

४ छा उप ६८५

देता है । यदि तेज उस पीये हुए जल को शोषित याने कि सुखाता नही तो शरीर मे जल अधिक हो जाता । फलस्वरूप वह देह को आर्द्र करके शिथिल कर देता । अत तेज द्वारा सर्वथा शोषित किये जाने पर ही पुरुष की जल पीने की पुन इच्छा होती है । 'उदन्या' के इस औषनिषदिक निर्वचन से यह ज्ञात होता है कि पीये हुए जल को तेज ले जाता है अर्थात् अग्नि सुखा देती है, इसीलिये उसे 'उदन्या' कहा जाता है ।

उद्‌गीथ

शाब्दिक अर्थ

उद्‌गीथ शब्द उद् + 'गै' धातु (शब्दे) अथवा 'गा' धातु (स्तुतौ) मे थक् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है ।[१] इसका शाब्दिक अर्थ है — ओकार - सपुटित सामगान की विशेष रीति ।[२]

उपनिषद् और उद्‌गीथ

प्रमुख उपनिषदो मे 'उद्‌गीथ' शब्द छियासठ बार उपलब्ध होता है[३] । उद्‌गीथ मे तीन अक्षर है — उद् + गी + थ ।[४] 'ओम' यह अक्षर उद्‌गीथ है **ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथम्** ।[५] ओम् का जब उच्च स्वर से गान किया जाता है तब उसकी सज्ञा 'उद्‌गीथ' हो जाती है । ओमिति ह्युद्‌गायति ।[६] उद्‌गीथ साम का रस है । कैसे ? चराचर भूतो का 'पृथिवी' रस है, क्योकि पृथिवी उत्पत्ति, स्थिति और लय का आश्रय है । पृथिवी का रस 'जल' (आप्) है , क्योकि ओषधियॉ जल का ही परिणाम है । ओषधियो का रस 'पुरुष' है, क्योकि पुरुष अन्न का ही परिणाम है । पुरुष का रस 'वाक्' है, क्योकि पुरुष के अवयवो मे 'वाक्' ही सबसे सारवस्तु है । इसीलिये 'वाक्' पुरुष का रस मानी जाती है । वाणी का सारभूत 'ऋक्' ही रस

---

१ उणादि सूत्र ११ १०

२ हिन्दू धर्मकोश पृ ११२

३ Concordance P 231-32

४ उद्‌गीथ इति त्र्यक्षरम् । छा उप २ १० ३

५ वही १ १ १

६ वही

है । ऋक् का रस 'साम' है जो उससे भी अधिक सारतर है । साम का रस 'उद्गीथ' है, क्योकि यह साम से भी सारतार है । **साम्न उद्गीथो रसः ।**[१]

यह उद्गीथ जो ओङ्कार का उच्चस्वर से गान है, वह रसो का रस है । परम रस है । सर्वोच्च स्थानी रस है । क्यो ? क्योकि रसो की श्रृखला मे, पृथिवी-जल--ओषधि-पुरुष-वाणी-ऋक्-साम-उद्गीथ के रसक्रम मे वह आठवॉ रस है । इसीलिये उद्गीथ 'रसतम' है । **स एष रसाना ँ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः** ।[२]

श्रुति का कथन है कि 'ओम् यह अक्षर ही उद्गीथ है' ।परन्तु उद्गीथ की सृष्टि कैसे होती है ?वाणी ही ऋचा है । प्राण साम है ।[३] वाणी और प्राण का एक मिथुन है, एक जोडा है । ऋक् और साम का दूसरा मिथुन है, दूसरा जोडा है । जब ये जोडे परस्पर ससर्ग करते है तब ओम् (उद्गीथ) इस अक्षर की सृष्टि होती है ।[४] जो उद्गीथ है वही 'प्रणव' है । जो प्रणव है वही 'उद्गीथ' है । यह आदित्य ही उद्गीथ है, प्रणव है, ओम् है, क्योकि यह आदित्य (सूर्य) मानो उच्चर स्वर से ओङ्कार का घोष करता हुआ चलता है ।अत उद्गीथ, ओङ्कार और प्रणव एक ही है ।

निर्वचन -१

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युतिष्ठति । वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्न थमन्ने हीद ँ सर्व ँ स्थितम् ।[५]

उद्गीथ मे तीन अक्षर है —उद् + गी + थ । इनकी निरुक्ति इस प्रकार है—

१ उत् = **प्राण एव उत् ।** अर्थात् प्राण ही 'उत्' है क्योकि प्राणवान् व्यक्ति ही उठता है । प्राण से ही वह उन्नति करता है ।

---

१ एषा भूताना रस पृथिव्या आपो रस । अपामोषधयो रस ओषधीना पुरुषो रस पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋच साम रस साम्न उद्गीथो रस । वही १ १ २

२ वही १ १ ३

३ वागेवर्क प्राण साम । वही १ १ ५

४ तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे स ँसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत । वही १ १ ६

५ वही १ ३ ६

२ गी = **वाग्गी** । अर्थात् वाणी ही 'गी' है क्योकि लोक मे वाणी को ही 'गिर्' कहते है। गिर् और वाणी पयार्यवाची है ।

३ थ = **अन्न थम्** । अर्थात् अन्न ही 'थम्' (थ) है, क्योकि अन्न मे ही यह सब कुछ स्थित है ।[१]

उपर्युक्त निर्वचन से यह ज्ञात हो जाता है कि 'उद्गीथ' प्राणमय, वाड्मय और अन्नमय है ।

निर्वचन-२

द्यौरेवोदन्तरिक्ष गीः पृथिवी थम् ।

१ उत् = **द्यौरेवोद्** । अर्थात् द्यौ ही (द्युलोक) 'उद्' है ।

२ गी = **अन्तरिक्षं गीः** । अर्थात् अतरिक्ष ही 'गी' है ।

३ थ = **पृथिवी थम्** । अर्थात् पृथिवी ही 'थम्' है ।[२]

निर्वचन - ३

आदित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थम्

१. उत् = **आदित्य एव उद्** । अर्थात् आदित्य ही 'उद्' है ।

२ गी = **वायुर्गीः** । अर्थात् वायु ही 'गी' है ।

३. थ = **अग्निस्थम्** । अर्थात् अग्नि ही 'थम्' है ।[३]

निर्वचन - ४

सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहो ....

१. उत् = **सामवेद एवोत्** । अर्थात् सामवेद 'उत्' है ।

२. गी = **यजुर्वेदो गीः** । अर्थात् यजुर्वेद 'गी' है ।

३. थ = **ऋग्वेदस्थम्** ।अर्थात् ऋग्वेद 'थम्' है ।

उपर्युक्त तीनो निवर्चनो से बोध हो जाता है कि उद्गीथ मे द्यौ, अतरिक्ष पृथिवी ये तीनो लोक, आदित्य, वायु और अग्नि ये तीनो देव और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ये तीनो वेद समाहित है ।जो इस प्रकार उद्गीथ के अक्षरो का समझता

---

१ वही

२ वही १ ३ ७

३ वही ।

है उसके लिये वाणीरूपी गौ मानो अपना दूध दुह देती है — वाणी का यही दूध है। दुग्धेऽस्मै वाग्दोह यो वाचो दोहो।[1] अर्थात् इन अक्षरो मे निहित अर्थो को जानना ही मानो वाणी को दुह लेना है।

निर्वचन - ५

बृहदारण्यकोपनिषद् मे उद्गीथ का उत् + गीथा इस प्रकार निर्वचन दिया गया है।

एव उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदॅ् सर्वमुत्तब्ध वागेव गीथो।[2]

१. उत् = **प्राणो वा उत्प्राणेन हीदॅ् सर्वमुत्तब्धम्**। अर्थात् प्राण ही 'उत्' है, क्योकि प्राण से ही यह जगत् उत्तब्ध याने कि ऊपर की ओर ठहरा हुआ है। अर्थात् विधृत है। 'उत्' 'उत्तब्ध' अर्थ का द्योतन करनेवाला है और प्राण का गुण बताने वाला है। अत प्राण ही 'उत्' है क्योकि वही सबको उठाता है।

२. गीथा = **वागेव गीथा**। अर्थात् वाणी ही 'गीथा' है क्योकि उद्गीथ भक्ति शब्द विशेष ही है। 'गै' धातु का अर्थ है - शब्द करना। अत 'गीथा' वाक् ही है। उद्गीथ भक्ति के स्वरूप की शब्द के अतिरिक्त और कोई उत्प्रेक्षा नही की जा सकती। अत वाक् 'गीथा' है।

निर्वचन - ६

१. उद्गीथ = **उच्च गीथा चेति स उद्गीथः**। वह उत् है और गीथा भी है। इसलिये उद्गीथ है। अर्थात् 'उत्' ऊपर उठने वाला प्राण है और गीथा प्राणतन्त्रा वाक् है। अत इन दोनो का एक ही शब्द से कथन होता है और वह शब्द उद्गीथ है। अत प्राण और वाक् से ही उद्गान किया जाता है।[3] वाणी मे प्रतिष्ठित हुआ

---

१ वही

२ बृह उप १ ३ २३-

३ वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति। वही १ ३ २४

प्राण गया जाता है। **वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत् प्राणः प्रतिष्ठितो गीयते**।[१] वाणी अर्थात् जिह्वामूलीयादि स्थानो मे प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गीतिभाव को प्राप्त करता है। अर्थात् प्राण वाणी मे आकर ही स्वरगान मे उच्चता और मधुरता प्रदान करता है। अत वाणी और प्राण के मेल से ही 'उद्गीथ' गान सम्भव है।

अत उद्गीथ - प्राणमय, वाङ्मय और अन्नमय है। दर्शन के तीन प्रमुख तत्त्वो-प्राण वाक् और अन्न का बोध इस निरुक्ति से हो जाता है। उद्गीथ मे ही तीनो लोक — द्यौ, अतरिक्ष और पृथिवी, तीनो वेद-ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, तीनो देव — आदित्य, वायु और अग्नि समाहित है। 'उत्' प्राण है और वाणी 'गीथा' है। दोनो मिलने से ही उद्गीथ की निष्पत्ति होती है। क्योकि प्राण और वाक् से ही उद्गान, याने कि ओम् का उच्चस्वर मे गान किया जाता सकता है और तभी उसकी सज्ञा उद्गीथ होती है।

---

१ वही १ ३ २७

उपद्रव

शाब्दिक अर्थ

उपद्रव शब्द(पु) उप + द्रु धातु + अप् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — उत्पात, क्षति, एक रोग के बीच मे होने वाला दूसरा गौण रोग, उपसर्ग, सामगान के सात अवयवो मे से एक, विप्लव ।[१]

उपनिषद् और उपद्रव

उपनिषद् वाङ्मय मे चार अक्षरो वाला 'उपद्रव' शब्द केवल छान्दोग्योपनिषद् मे मे तीन बार उपलब्ध होता है ।[२] यह उपनिषद् सामवेदीय उपनिषद् है । इसमे सामगायन के सात अवयवो — हिकार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन का निरूपण मिलता है । वाणी मे सप्तविध साम की उपासना करनी चाहिये ।[३] वाणी अर्थात् शब्द का 'हुँ' ऐसा जो विशेष रूप है वह 'हिकार' है, क्योकि 'हुँ' और 'हिकार' मे 'ह' की समानता है । जो कुछ 'प्र' ऐसा शब्द रूप है वह 'प्रस्ताव' है, क्योकि उन दोनो मे 'प्र' का सादृश्य है । जो कुछ 'उत्' है वह 'उद्गीथ' है क्योकि उन दोनो मे 'उत्' समान है जो कुछ 'प्रति' शब्द है वह 'प्रतिहार' है, क्योकि दोनो मे 'प्रति' का सादृश्य है । जो कुछ 'उप' है वह उपद्रव है, क्योकि उन दोनो मे 'उप' समान है । जो कुछ 'नि' है वह निधन है, क्योकि उन दोनो मे 'नि' की समानता है ।[४]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ २४८
२ Concordance p 236
३ छा उप २८१
४ वही २८२

निर्वचन

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुष दृष्ट्वा कक्ष ँ श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।[१]

अर्थात् आदित्यविषयिणी सात प्रकार की सामोपासना मे आदित्य का जो रूप अपराह्ण (दोपहर) के बाद और सूर्यास्त के पूर्व होता है वह 'उपद्रव' है । उसके उस रूप के अनुगामी वन्य पशु है । क्यो ? क्योकि इसी से वे पुरुष को देखकर भयभीत हो 'अरण्य' अर्थात् गुहा (गुफा) मे भाग जाते है । इस प्रकार देखकर भागने के कारण वे इस साम की उपद्रवभक्ति के भागी है । अत उपद्रव शब्द उप + द्रु धातु गतौ से निष्पन्न हुआ है ।

---

१ वही २९७

ओम् (ओङ्कार)

शाब्दिक अर्थ

ओम् शब्द अव + म् से बनता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — प्रणव, रक्षक, परमात्मा ।[१] ओङ्कार (पु) शब्द ओम् + का से निष्पन्न होता है । यह एक पवित्र पद है जो वेदाध्ययन के पूर्व और अन्त मे बोला जाता है । अव्ययात्मक रूप मे इसके अर्थ है — सम्मानपूर्वक स्वीकृति, गम्भीर समर्थन, मङ्गल, ब्रह्म और प्रणव ।[२]

उपनिषद् और ब्रह्म

प्रमुख उपनिषदो मे 'ओम्' शब्द चालीस बार[३] और 'ओङ्कार' शब्द नौ बार[४] मिलता है। ओम् 'ओङ्कार' प्रणव और उद्गीथ ये सभी पर्याय है । ओम् यह अक्षर ही 'उद्गीथ' है। **आमित्येतदक्षरमुदगीथम्** ।[५] उद्गाता जब ओम् का उच्चस्वर मे गायन करता है तब उसकी सज्ञा उद्गीथ हो जाती है। **ओमित्युद्गायति** ।[६] जो उद्गीथ है वही प्रणव है, जो प्रणव है, वही उद्गीथ है ।[७] ओम् ही ब्रह्म है । **ओमिति ब्रह्म** ।[८] ओम् ही यह सब कुछ है । **ओमतीदॅ सर्वम्** ।[९] **ओङ्कार एवेदं सर्वम्**[१०] ।

---

१ वैदिक कोश पृ ४०१
२ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ २७८
३ Concordance p 273-4
४ वही २७२
५ छा उप १ १ १
६ वही
७ य उद्गीथ स प्रणवो य प्रणव स उद्गीथ इति। वही १ ५ १
८ तै उप १ ८ १
९ वही
१० छा उप २ २३ ३

यह सृष्टि ओम् की ही अनुकृति है अर्थात् व्यक्त रूप है । **ओमित्येदनुकृति** ।[१]

ओङ्कार से सम्पूर्ण वाक् व्याप्त है । ओङ्कार ही यह सब कुछ है ।

ओङ्करेण सर्वा वाक्सतृण्णोङ्कार एवेदँ सर्वमोङ्कार एवेदँ सर्वम् ।[२]

जिस प्रकार नसो से सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते है, उसी प्रकार ओङ्कार से सम्पूर्ण वाणी ओत-प्रोत रहती है । ओम् वह पद है जिसका सारे वेद बार-बार वर्णन करते है । सारे तप जिसको पुकारते है वह यह 'ओम् एक अक्षर है । यही ब्रह्म है यही 'पर' है । यही सर्वश्रेष्ठ आलम्बन है सहारा है, आश्रय है ।

एतद्ध्येवाक्षारं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् । एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।[३]

ओङ्कार ही परापर ब्रह्म है । **पर च अपरं च ब्रहम यदोङ्कारः** ।[४] जो कुछ भूत, भविष्यत् और वर्तमान है, वह ओङ्कार है । इतना ही नही जो त्रिकालातीत है, वह भी ओङ्कार है ।[५]

निर्वचन- १

त्रिमात्रेणोमिति[६] । ओम् त्रिमात्रात्मक है ।इसकी तीन मात्राये है — अकार उकार और मकार । अ, उ, म देवनागरी वर्णमाला के वर्ण है । 'अ' वर्णमाला का प्रथम वर्ण है । यह स्वर है । यह सम्पूर्ण वाणी है । **अकारो वै सर्वा वाक्** ।[७] 'उ' नागरी वर्णमाला का पॉचवॉ अक्षर है । इसका उच्चारण ओष्ठ की सहायता से होता है । इसकी गणना तीन मुख्य स्वरो मे है । 'म' नागरी वर्णमाला का पच्चीसवॉ व्यञ्जन है । 'पवर्ग' का अन्तिम वर्ण है । इसका उच्चारण ओष्ठ और नासिका से

---

१ तै.उप १८१

२ छा.उप २२३३

३ कठ उप २-१६,१७

४ प्रश्न.उप.५२

५ ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्व तस्योपव्याख्यान भूत भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीत तदप्योङ्कार एव ।मा उप १

६ प्रश्न.उप.५५

७ ऐ आ.२३.३६

होता है । यह 'स्पर्श' और 'अनुनासिक' वर्ण है । इसके उच्चारण मे सवार, नादघोष और अल्पप्राण प्रत्यन्त लगाये जाते है ।

चतुष्पाद आत्मा को अक्षरदृष्टि से ओङ्कार माना गया है । यह आत्मा मात्राओ का आश्रय लेकर ही स्थित है । इसीलिये 'पाद' ही मात्रा है और 'मात्रा' ही पाद है ।[१] आत्मा के पादो के साथ ओङ्कार की अकार-उकार-मकार मात्राओ का तादात्म्य है । यह तादात्म्य कैसे है ? औपनिषदिक निर्वचन मे इसी तादात्म्य के कारणो का विवेचन किया गया है ।

निर्वचन - २

जागरितस्थानो: वैश्वानरोऽकार: प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वात् ।[२]

(१) आप्ते:

(१) अकार: प्रथमा मात्रा = जागारितस्थान: वैश्वानर: =

(२) आदिमत्त्वात्

अर्थात् जागरितस्थान वाला वैश्वानरसज्ञक आत्मा ही ओङ्कार की पहली मात्रा-अकार है । दोनो मे परस्पर अभिन्नता का आधार क्या है ? (१) आप्ति और (२) आदिमत्त्व । 'आप्ति' का अर्थ है 'व्याप्ति' । 'अकार' निश्चय ही सपूर्ण वाक् है । 'अकार' से ही सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है । अकार की भॉति वैश्वानरसज्ञक आत्मा भी समस्त जगत् मे व्याप्त है । क्योकि सम्पूर्ण नरो को अनेक प्रकार की योनियो मे 'नयन' अर्थात् वहन करने के कारण ही आत्मा को वैश्वानर सज्ञा दी गई है । अथवा यह विश्व नररूप है इसलिये 'विश्वानर' है ।[३] विश्वानर ही वैश्वानर कहलाता है । वैश्वानरसज्ञक आत्मा का मस्तकद्युलोक है ।[४] अत अभिधान-अभिधेय अर्थात् वाचक-वाच्य की परस्पर समानता 'आप्ति' — व्याप्ति के कारण ही है । इस समानता का दूसरा कारण है 'आदिमत्त्वता' । जैसे 'अकार' वर्णमाला का 'आदि अक्षर है वैसे ही 'चतुष्पाद् आत्मा' का 'वैश्वानर' आदि पाद है । वैश्वानर समस्त देहो

---

१ सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्र पादा मात्रा
मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति । मा उप ८

२ वही १

३ विश्वेषा नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानर । यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानर । विश्वानर एव वैश्वानर । मा उप शा भा ३

४ वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा । छा उप ५ १८ २

से अभिन्न होने के कारण 'पहला पाद' है ।[१] परवर्ती पादो का ज्ञान इसका ज्ञान होने पर ही होता है । इसलिये यह प्रथम है । अत 'आप्ति — व्याप्ति और 'आदिमत्त्वता' के कारण ही वैश्वानर सञ्ज्ञक आत्मा का प्रथम पाद और ओङ्कार की प्रथममात्रा 'अकार' की समानता है ।

(२) स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीयमात्रोत्कर्षादुभयात्वात् ।[२]

(१) उत्कर्षात्

(२) उकारः द्वितीय मात्रा = स्वप्नस्थानस्तैजस =

(२) उभयात्

अर्थात् जो स्वप्नस्थान तैजससञ्ज्ञक आत्मा है वही ओङ्कार की दूसरी मात्रा 'उकार' है । उकार और तैजस की परस्पर समानता के दो कारण है । प्रथमत जैसे 'उकार', अकार से उत्कृष्ट है वैसे ही तैजस, वैश्वानर से उत्कृष्ट है । द्वितीयत ये दोनो 'मध्यवर्ति है । जैसे 'अकार' और 'मकार' के मध्य 'उकार' है वैसे ही 'वैश्वानर' और 'प्राज्ञ' के मध्य 'तैजस' है । अत उभयपरत्वरूप समानता के कारण दोनो मे अभिन्नता है ।

(३) **सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा ।**[३]

(१) मितेः

मकारस्तृतीया मात्रा = सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो =

(२) अपीतेः

अर्थात् जो सुषुप्तस्थान प्राज्ञ सञ्ज्ञक आत्मा है वही ओङ्कार की तीसरी मात्रा है । दोनो मे परस्पर समानता का क्या कारण है ? 'मिति' और 'अपीति' । मिति कहते है 'मान' को अर्थात् 'माप' को । जैसे 'प्रस्थ' एक प्रकार का बाट या नाप है जिससे जौ आदि धान तोले जाते है । उसी प्रकार प्रलय और उत्पत्ति के समय मानो प्रवेश और निगमन के द्वारा प्राज्ञ से विश्व और तैजस मापे जाते है । जब हम ओङ्कार का उच्चारण करते है तब ओङ्कार की समाप्ति पर मानो अकार और उकार, मकार मे से

---

१ सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात् स प्रथम पादः । मा उप.शा भा ३

२ मा उप १०

३ वही ११

पुन बाहर निकलते है । दोनो की परस्पर समानता का दूसरा कारण है — 'अपीति' । अपीति — 'अप्यय' अर्थात् एकीभाव को कहते है । जैसे ओङ्कार का उच्चारण करने पर 'अकार' और 'उकार' अन्तिम अक्षर 'मकार' मे एकीभूत से हो जाते है । वैसे ही 'सुषुप्ति' मे 'विश्व' और 'तैजस' एकीभूत हो जाते है । अत प्राज्ञसज्ञक आत्मका का 'पाद' और ओङ्कार की मात्रा 'मकार' की परस्पर समानता 'मिति' और 'अपीति' के कारण है ।[१]

उपर्युक्त औपनिषदिक निर्वचन से ही यह ज्ञात होता है कि वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ सज्ञक आत्मा के तीनो पादो की, ओङ्कार की तीनो मात्राओ अकार, उकार ओर मकार की समानता है ।इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'अकार' ओङ्कार के इस प्रथम अक्षर का अर्थ आदिमत्त्व गुण के कारण 'आप्ति' है, द्वितीय अक्षर 'उकार' का अर्थ उभयत्वसूचक भाव के कारण 'उत्कर्ष' है और तृतीय अक्षर 'मकार' का अर्थ 'माप' और लीनताभाव के कारण 'मिति' अथवा 'अपीति' है । अत ओङ्कार की मात्राओ और आत्मा के पादो की समानता गुणो के आधार पर ही है ।

१　मितेर्मितिर्मान मीयते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्यो प्रवेशनिर्गमाभ्या प्रस्थेनेव यवा । यथोङ्कारसमाप्तौ पुन प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इवाकारोकारो मकारे । मा उप शा भा ११

कर्मन्

शाब्दिक अर्थ

कर्मन् शब्द (न) कृ धातु मनिन् से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ है—कार्य, क्रिया, शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक कर्म, आचरण, पूर्वजन्मकृत कर्म जिसका फल इस जन्म मे मिल रहा हो, भाग्य और वह जिस पर क्रिया का फल पडे।[१] व्याकरण के अनुसार य शब्छ 'डुकृञ् करणे' से बनता है।[२]

उपनिषद् और कर्मन्

प्रमुख उपनिषदो मे 'कर्मन्' शब्द बहुविध अर्थो मे पचास से भी अधिक बार उपलब्ध होता है।[३] भारतीय दर्शन मे कर्म का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। कर्म पुनर्जन्म से जुडा हुआ है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे आर्तभाग महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछते है कि, 'जब मृतपुरुष की वाणी अग्नि मे, प्राण वायु मे, चक्षु आदित्य मे, मन चन्द्रमा मे, श्रोत्र दिशा मे, शरीर पृथिवी मे, हृदयाकाश भूताकाश मे लोम ओषधियो मे केश वनस्पतियो मे, लोहित और वीर्य जल मे लीन हो जाते है तब पुरुष कहाँ रहता है ?'[४] महर्षि याज्ञवल्क्य कहते है कि 'हे आर्तभाग ! तब पुरुष कर्म मे ही निवास करता है।'

तौ ह यदूचतुः कर्म हैव यदूचतुरथ यत् प्रशशँसतुः कर्म हैव तत् प्रशशँसतु पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति।[५]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ३०५
२ अष्टाध्यायी ८१२१
३ Concordance p 284-85
४ बृह उप ३२१३
५ वही

आर्तभाग और महर्षि याज्ञवल्क्य ने परस्पर मीमासा करने के बाद कर्म की ही प्रशसा की । मृत्यु के समय सब कुछ छूट जाने पर भी 'कर्म' नही छूटता । कर्म ही पुन देह धारण करने का हेतु है । पुण्य कर्म से जीव पुण्ययोनि और पापकर्म से पापयोनि से युक्त होता है । इसलिये ईशोपनिषद् मनुष्य को कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने का आदेश देती है ।[१]

प्रजापति ने कर्मो की रचना की । **प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे**[२] । अर्थात् कर्मो की अथवा कर्म-साधन इन्द्रियो की रचना की । कर्म के साधन होने के कारण ही वागादि करणो (साधनो) को कर्म की सज्ञा दी गई है ।[३]

निर्वचन - १

कर्म कुरुते ।[४]

अर्थात् कर्म शब्द 'कर्म कुरुते' से निष्पन्न होता है ।

निर्वचन - २

कर्माणि कुर्वीत्येत्यथ कुरुते[५] ।

अर्थात् 'मै कर्म करुँ' इस चिकीर्षा-बुद्धि से मनुष्य कर्म करता है । ब्रह्म कर्मरूप से हाथो मे निवास करता है ।**कर्मेति हस्त्यो ।**[६] दोनो हाथो को 'ग्रह' और कर्मो का 'अतिग्रह' बताया गया है क्योकि मनुष्य दोनो हाथो से कर्म करता है ।

हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति ।[७]

---

१ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समा । ईशा उप २

२ बृह उप १ ५ २ १

३ प्रजापति किल प्रजा सृष्ट्वा कर्माणि करणानि वागादीनि – कर्मार्थानि हि तानीति कर्माणीत्युच्यन्ते । बृह उप शा भा वही ।

४ बृह उप ४ ३ ३

५ छां उप ८ ३ २१

६ तै उप ३ १० २

७ बृह उप ३ २ ८

काम

शाब्दिक अर्थ

काम शब्द (पु) कम् धातु + णिड् + घञ् से निष्पन्न हुआ है । इसके शाब्दिक अर्थ है — कामना, अभिलाषा, स्नेह, प्रेम, चार पुरुषार्थो मे से एक पुरुषार्थ, स्त्री सम्भोग की कामना, कामदेव, प्रद्युम्न का नाम, बलराम का नाम । एक प्रकार का पेड । काम (न) कम् + णिड् + अण् से भी बनता है ।इसके शाब्दिक अर्थ है — इष्ट वस्तु, अभीष्ट पदार्थ, वीर्य, धातु ।[१]

उपनिषद् और काम

प्रमुख उपनिषदो मे 'काम' शब्द अडसठ से भी अधिक बार मिलता है ।[२] काम सृष्टि का मूल है । स्रष्टा ने सृष्टि के प्रारम्भ मे कामना की कि 'मै एक हूँ बहुत हो जाऊँ ।'[३] कामना के अनुरूप उसने तप किया । तप करके यह जो कुछ है उस सबकी उसने सृष्टि की । सृष्टि का आरम्भ काम से हुआ ।काम ही मन का 'रेतस्' अर्थात् सार है ।[४] काम ही मन की विभूति है ।[५] मनुष्य जो -जो कामना करता है वह सकल्प से ही पूर्ण होती है ।[६] पुरुष काममय है ।[७] ब्रह्मपुर मे अर्थात् हृदय-पुण्डरीक उपलक्षित अन्तराकाश मे सम्पूर्ण कामनाये सम्यक् रूप से स्थित है ।[८] मनुष्य मे विविध प्रकार की कामनाये रहती है ।[९]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ३१९, वैदिक कोश पृ ४३५

२ Concordance p 291-2

३ तै उप २ ६ १

४ कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेत प्रथम यदासीत । अथर्व १९ ५ २ १

५ कामो जज्ञे प्रथमो । वही ९ २ १९

६ य य कामयते सोऽस्य सकल्पादेव समुत्तिष्ठति । छा उप ८ २ १०

७ काममय पुरुष । बृह उप ३ ९ ११

८ ब्रह्मपुरमस्मिन्कामा समाहिता । छा उप ८ १ ४-५

९ अस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया । वही ४ १० ३

काम का अर्थ भोग अर्थात् सासारिक भोग भी है । यम नचिकेता को मर्त्यलोक मे जो जो काम-भोग दुर्लभ है उन्हे माँगने का आदेश देते है । **ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामॅश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।**[1] इतना ही नही यम नचिकेता को मानुषी और दैवी सभी कामनाओ का कामभोगी अर्थात् इच्छानुसार भोगो को भोगने वाला बना देना चाहते है ।[2] काम अर्थात् भोग क्या है ? पुत्र-वित्तादि, वाद्य-यन्त्रो सहित दिव्य अप्सराये, बहुत से पशु, हाथी, सुवर्ण, घोडे, विशालभूम-ण्डल, जब तक जितना जीना चाहे उतने वर्ष का जीवन ये सभी प्रियरूप काम-भोग है । **प्रियान्प्रियरूपाॅश्च कामाः ।**[3] मनुष्य को ये सभी काम अर्थात् भोग सदैव लुभाते रहते है परन्तु जो श्रेयमार्ग के पथिक होते है उन्हे ये सासारिक भोग विचलित नही करते है ।[4] मन्दमति पुरुष सासारिक भोगो का, और बाह्य कामनाओ का ही अनुगमन करते है । फलस्वरूप निरन्तर जन्म-मरण, जरा और रोग आदि अनर्थो को प्राप्त करते है ।[5]

मनस्थ काम ही पुनर्जन्म का हेतु है । जीव मृत्यु के समय जैसी कामना करता है वह उन कामनाओ के वशीभूत होकर वैसा ही जन्म लेता है ।[6] जैसी कामना होती है वैसा ही 'क्रतु' - सकल्प होता है । जैसा सकल्प होता है वैसा ही कर्म होता है ।[7] काम के अनुरूप ही जीव की शुभाशुभ गति होती है । जीव जिस काम मे आसक्त होकर कर्म करता है उसे वैसा ही फल मिलता है ।मृत्यु के समय जिस 'काम' मे जीव का मन बॅध जाता है, फिर उससे बॅधा हुआ सा कर्मो सहित वह उधर ही खिचा चला जाता है ।[8] काम मन मे ऐसे ससक्त रहता है जैसे पुष्प मे गन्ध । इसीलिए पुरुष को 'काममय' कहा जाता है । स्त्री प्रसङ्ग की अभिलाषा ही यहॉ

---

१ कठ उप. १ १.२५
२ कामाना त्वा कामभाजं करोमि । वही १ १.२४
३ वही १ २ ३
४ न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त । वही १ २.४
५ पराच कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् । वही ४ २
६ कामान् य कामयते मन्यमान स कामभिर्जायते तत्र तत्र । मुं उप.३ २.२.
७ बृह उप ३ ९.११
८ वही ४.४ ६

'काम' है, क्योकि स्त्री से ही काम का उद्दीपन होता है ।[१] सृष्टि के आरभ मे केवल एक आत्मा ही था । उसने कामना की कि, 'मेरे स्त्री हो, फिर मैं प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ । तथा मेरे धन हो तो मै कर्म करुँ ।' अर्थात् स्त्री, पुत्र, वित्त और कर्म ही 'काम' है । ये ही कामना करने योग्य विषय है । कामनाये अनन्त है ।प्रजापति ने भी काम के वशीभूत होकर सृष्टि की । काम से प्रेरित होकर अकेले रति-रमण न करने के कारण और उस अरति की निवृत्ति के लिये उसने स्त्री की कामना की ।फलस्वरूप उससे सयुक्त होने पर ही यह सृष्टि हुई ।

आत्मेवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तम्.... ।[२]

परम तत्त्व आत्म अतिच्छन्दरूप है । छन्द शब्द का अर्थ यहॉ गायत्री आदि छन्द न होकर 'काम' है । लोक मे 'स्वच्छन्द' और 'परछन्द' शब्दो मे छन्द शब्द का 'काम' अर्थ मे प्रयोग प्रसिद्ध है । अत 'अतिच्छन्द' शब्द का अर्थ है - काम रहित । आत्मा कामरहित है, अपहतपाप्मा- पापरहित ओर अभय रूप है । इस आत्मा का साक्षात्कार करने से जीव आप्तकाम, आत्मकाम और अकाम हो जाता है ।[३] जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, मृत्यूपरान्त उसके प्राणो का उत्क्रमण नही होता, वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है ।[४] जब मनुष्य के हृदय मे आश्रित सम्पूर्ण कामो का, तृष्णाओ का नाश हो जाता है तब यह मरणधर्मा अमृत हो जाता है और यहीं इस शरीर मे ही उसे ब्रह्मप्राप्ति हो जाती है ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति ।[५]

जो जीव इस लोक से आत्मा को तथा सत्य कामनाओ को जानकर जाते हैं, उनकी समस्त लोको मे यथेच्छ गति होती है ।

---

१ स्त्री व्यतिकराभिलाष कामः । स्त्रीतो हि कामस्य दीप्तिर्जायते । बृह उप शा भा ३ ९ ११

२ वही. १ ४ १७

३ वही ४ ३ २१

४ अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । वही ४ ४ ६.

५ वही ४ ४ ७ य कठ उप २ ३ १४, २ २ १३, श्वेता उप ६ १३

एताश्चँ सत्यान् कामाँ स्तेषाँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।[१]

निर्वचन

कामं काम्यते ।[२]

अर्थात् भोगो की कामना 'काम' है । मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योकि प्राणी मन से ही कामो की कामना करता है ।

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान् कामयते ।[३] काममय पुरुष का आयतन काम है, हृदय लोक है, मन ज्योति है ।[४] मनुष्य जिस -जिस की कामना करता है और जिस-जिस भोग की कामना करता है वही उसे प्राप्त होते है ।

य यमन्तमभिकामो भवति यं काम कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठिति तेन सम्पन्नो महीयते ।[५]

विशुद्ध चित्त आत्मवेत्ता मन से जिस जिस लोक की भावना करता है और जिन-जिन भोगो को चाहता है वह उन्ही-उन्ही लोको और उन्ही-उन्ही भोगो को प्राप्त करता है ।

यं य लोकं मनसा सविभति विशुद्धसत्त्वः कामयते याश्च कामान्
त तं लोकं जयते ताश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ।[६]

सुषुप्त्यावस्था मे भी मनुष्य किसी भी प्रकार के काम अर्थात् भोग की इच्छा नही करता है । इसका तात्पर्य यह है कि वह स्वप्न और जाग्रत के सभी भोगो की इच्छा नही करता है ।

यत्र सुप्तो न कञ्चन काम कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ।[७] उपर्युक्त सभी निरुक्तियो मे काम शब्द कमु धातु कान्तौ से निष्पन्न हुआ है ।

---

१ छा उप.८ १ ६
२ बृह उप १ ३ २८
३ बृह उप ३ २ ७
४ वही ३.९ ११
५ छा उप.८.२ १०
६ मु उप ३ १ १०
७ बृह उप ४ ३ १९

गायत्री

शाब्दिक अर्थ

गायत्री शब्द (स्त्री) गायन्त त्रायते, गायत् त्रै धातु + क से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ है — वेदमाता, द्विजो का उपास्य एक मन्त्र, वैदिक छन्द विशेष जिसमे २४ अक्षर होते है, दुर्गा और गङ्गा।[१] वैदिक कोश के अनुसार गायत्री और गायत्र शब्दो से वैदिक परिभाषा मे तीनो लोक, भूलोक, प्राण, अग्नि, ब्राह्मण, ब्रह्मवर्चस् तेज, वीर्य, शिर, मुख, अष्टाक्षर छन्द, प्राचीदिशा, वसुपत्नी रथन्तर, सप्तदश स्तोय, यज्ञ और प्रात सवन आदि लिये गये है।[२]

उपनिषद् और गायत्री

प्रमुख उपनिषदो मे 'गायत्री' शब्द केवल तेरह बार छादोग्य और बृहदारण्यकोपनिषद् मे ही मिलता है[३]। चतुष्पदा गायत्री षड्विधा है। गायत्री मत्र मे २४ अक्षर होते है। **सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम्।**[४] चौबीस अक्षरो वाला गायत्री छद प्रात सवन से सबद्ध है। **चतुर्वि ँ शत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः सवनम्।**[५]

गायत्री के 'भूमि-अन्तरिक्ष-द्यौ', त्रैलोक्यरूप इस प्रथम पाद का, 'ऋच - यजूषि-सामानि' त्रयीविद्यारूप इस द्वितीय पाद का, 'प्राण-अपान व्यान' प्राणादि

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ४०१
२ वैदिक कोश पृ ४९५
३ Concordance p 330
४ छा उप ३ १२ ५
५ वही ३ १६ १

रूप इस तृतीय पाद का और 'तुरीय', 'दर्शत' 'परोरजा' रूप चतुर्थ पाद का भी बृहदारण्यकोपनिषद् मे विशद् विवेचन मिलता है ।

चतुष्पाद गायत्री

१ प्रथम पाद = ८ अक्षर = लोकरूप पाद = भूमि अतरिक्ष और द्यौ ये - आठ अक्षर है ।[१]

२. द्वितीय पाद = ८ अक्षर =त्रयी विद्या रूप पाद = ऋच , यजूॅषि और सामानि - ये आठ अक्षर है ।[२]

३ तृतीय पाद = ८ अक्षर = प्राणादि पाद = प्राण, अपान, व्यान - ये आठ अक्षर हैं ।[३]

४ चतुर्थ पाद = - - = तुरीय, दर्शत, परोररजा[४] - -

अत गायत्री का 'त्रिलोकी' पहला पाद है । 'त्रयी विद्या' द्वितीय पाद है । 'तीनो प्राण' तृतीय पाद हैं ।तुरीय, दर्शत और परोरजा चतुर्थ पाद है । परन्तु इन सबसे परे निरुपाधिक स्वरूप से गायत्री 'अपद' याने कि पदरहित है ।[५]

प्रथम पाद	भूमि, अतरिक्ष, द्यौ मे	८ अक्षर है । =	तत्सवितुर्वरेण्येम्, इस पद मे आठ अक्षर है ।	
द्वितीय पाद	ऋच यजूषि सामानि मे	८ अक्षर है । =	भर्गो देवस्य धीमहि,	इस पद मे आठ अक्षर है ।
तृतीय पाद	प्राण अपान व्यान मे	८ अक्षर है । =	धियो यो न प्रचोदयात्,	इस पद मे आठ अक्षर है ।
चतुर्थ पाद	तुरीय	= दर्शत	= परोरजा है ।	यह पाद अक्षर रहित है ।

---

१ भूमिरन्तरिक्ष द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरॅ ह वा एक गायत्र्यै पदमेतदु । बृह .उप ५ १४ १

२ ऋचो यजूॅषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरॅ ह वा एक गायत्र्यै पदमेतदु । वही ५ २४ २

३ प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरॅ ह वा एक गायत्र्यै पदमेतदु । वही.५ १४ ३

४ एतदेव तुरीय दर्शत पद परोरजा । वही

५ तस्या उपस्थान गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे । बृह उप ५ १४ ७

गायत्री की प्रतिष्ठा अपने पहले तीन पदो मे नही है अपितु इसी 'तुरीय', 'दर्शत' 'परोरज-पद' मे है और वह तुरीय-पद 'सत्य' मे प्रतिष्ठित है । चक्षु ही सत्य है, ऐसा लोक मे भी प्रसिद्ध है ? कैसे ?क्योकि जब दो व्यक्ति विवाद करते हुए आते है तो एक कहता है कि, 'मैने सुना है, दूसरा कहता है कि, 'मैने देखा है, तो जो कहता है कि 'मैने देखा है', उसी की बात को हम सत्य मानते है । हमे उसी पर विश्वास होता है । सुनने वाले का श्रवण तो मिथ्या हो सकता है किन्तु नेत्रो को मिथ्या दर्शन नही हो सकता है । सत्यज्ञान का हेतु होने के कारण चक्षु सत्य है । उस सत्यरूप चक्षु मे अन्य तीन पादो के सहित तुरीय पद प्रतिष्ठित है । तुरीय पद का आश्रयभूत सत्य बल मे प्रतिष्ठित है । प्राण ही बल है । इसीलिये 'सत्य' 'बल' मे और 'बल' 'प्राण' मे प्रतिष्ठित है । गायत्री अध्यात्म प्राण मे प्रतिष्ठित है ।[१]

निर्वचन -१

एषा गायत्र्यध्यात्म प्रतिष्ठिता सा हैषा गयाँ स्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाँ स्तत्रे तद्यद् गयाँ स्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम ।[२]

अर्थात् 'गय' नाम प्राणो का है । उन प्राणो का इसने त्राण किया । इसने शरीर के गयो - प्राणो का त्राण किया था, इसी से इसका नाम गायत्री हुआ ।

निर्वचन- २

गायत्री वा इदँ सर्व भूत यदिद किं च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदँ सर्वं भूत गायति च त्रायते च ।[३]

यह सब प्राणिवर्ग 'गायत्री' ही है । जो कुछ भी ये स्थावर-जङ्गम प्राणी है वे गायत्री का ही रूप है । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि गायत्री तो केवल छन्दमात्र है फिर उसका सर्वभूत होना कैसे सम्भव है ? इसका समाधान करते हुए श्रुति कहती है कि, वाणी ही गायत्री है । **वाग्वै गायत्री ।**

---

१ सैषा गायत्र्येतस्मिँ स्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वैतत्सत्ये प्रतिष्ठित — तत् सत्य बले प्रतिष्ठित प्राणो वै बल तत् प्राणे प्रतिष्ठित — एषा गायत्र्यध्यात्म प्रतिष्ठिता । वही ५ १४ ४

२ वही

३ छा उप ३ १२ १

वाक् ही यह सब भूत समुदाय है, क्योकि शब्द रूप हुई वाक् ही समस्त भूतो अर्थात् प्राणियो का गान करती है । गान करने का अभिप्राय यह है कि वाक् ही सबका नामोल्लेख करती है । जैसे 'यह अश्व' है', 'यह 'गौ' है', 'यह 'मनुष्य' है' इस प्रकार वाणी प्राणीवर्ग का गान करती है । वाक् ही सबका त्राण याने कि रक्षा करती है । कैसे ? क्योकि वाणी से ही मनुष्य दूसरे व्यक्ति को कहता है कि, 'तू इससे मत डर ।' 'तू क्यो डरता है' ? 'तुझे किससें भय है ?' इस प्रकार के वाक्यो से सब ओर से डर से निवृत्त किये जाने पर वाणी के द्वारा ही मनुष्यो की रक्षा की जाती है । अत प्राणियो का 'गान' और 'त्राण' करने के कारण वाणी और गायत्री अभिन्न है । गान और त्राण करने के कारण ही गायत्री का 'गायत्रीत्व' है ।[१]

निर्वचन- ३

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्या ँ हीद ँ सर्व भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ।[२]

अर्थात् गायत्री ही पृथिवी है । किंतु यह पृथिवी गायत्री कैसे है ? सम्पूर्ण प्राणियो से इसका सम्बन्ध होने के कारण ही यह पृथिवी गायत्री है । परन्तु इसका समस्त प्राणियो से कैसा सम्बन्ध है ? पृथिवी मे ही समस्त स्थावर तथा जङ्गम प्राणी स्थित हैं और वे इस पृथिवी का कभी अतिक्रमण भी नही करते । अत जैसे 'गान' और 'त्राण' करने के कारण गायत्री का सभी प्राणियो से सम्बन्ध है उसी प्रकार 'पृथिवी' का भी सम्पूर्ण प्राणीवर्ग से सम्बन्ध है । अत पृथिवी ही गायत्री है ।[३] भौतिक जगत मे जो पृथिवी है वही अध्यात्मिक जगत् मे पुरुष का शरीर है । गायत्री पृथिवी है तो गायत्री शरीर भी है । जैसे पृथिवी मे सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय स्थित हैं उसी प्रकार पुरुष के शरीर मे 'प्राण' प्रतिष्ठित है । प्राणों का अधिष्ठान होने के

---

१ वाग्वा इद सर्वं भूतम् । यस्माद्वाक्शब्दरूपा सती सर्वं भूत गायति । शब्दयत्सौ गौरसावश्व इति च, त्रायते च रक्षत्यमुष्मान्मा भैषी , किं ते भयमुत्थिम्, इत्यादिना सर्वतो भयान्निवर्त्यमानो वाचा त्रात स्यात् । यद्वाग्भूत गायति च त्रायते च गायत्र्येव तद्गायति च त्रायते च वाचोऽनन्यत्वाद्गायत्र्या । गानात्त्राणाच्च गायत्र्या गायत्रीत्वम् । छा उप शा भा वही

२ वही ३ १२ २

३ या वै सा पृथिवीय वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमें प्राणा प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते । छा उप शा भा ३ १२ ३

कारण शरीर गायत्री है, क्योकि प्राण इस शरीर का अतिक्रमण नही करते । जो भी इस पुरुष मे शरीररूप गायत्री है वह यही है, जो कि इस अन्त पुरुष मे (पुण्डरीक सज्ञक) हृदय है । वह गायत्री है ।शरीर के समान हृदय गायत्री है क्योकि इसी मे ये प्राण प्रतिष्ठित है ।[१] आत्मा हृदय है अर्थात् 'हृदि अयम्' । यह आत्मा हृदय है । हृदय गायत्री है । इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा = हृदय.= गायत्री है ।

गायत्री की इन उपर्युक्त औपनिषदिक निरुक्तियो से ज्ञात होता है कि गायत्री प्राण है । गयो अर्थात् प्राणो का त्राण करने से ही गायत्री का गायत्रीत्व है । गायत्री ही 'वाक्' है । जैसे वाणी प्राणियो का 'गान' और 'त्राण' करती है वैसे ही 'गान' और त्राण करने के कारण गायत्री का गायत्रीत्व है । गायत्री ही पृथिवी है । गायत्री ही शरीर है । गायत्री ही हृदय है, क्योकि हृदय मे ही प्राणो की प्रतिष्ठा है ।

---

१ छा उप ३ १२ ४

गुहा

शाब्दिक अर्थ

गुहा शब्द (स्त्री) गुह + अच् + टाप् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — गुफा, छिपाव, गढा, बिल और हृदय ।[१]

उपनिषद् और गुहा

प्रमुख उपनिषदो मे 'गुहा' शब्द केवल दस बार उलब्ध होता है ।[२] इस वाड्मय मे 'गुहा' शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है । आत्मा अणु से भी अणु अर्थात् श्यामाक (चावल) आदि सूक्ष्म पदार्थो से भी सूक्ष्मतर तथा महान् से भी महान् अर्थात् पृथिवी आदि महत्परिमाणवाले पदार्थो से भी महत्तर है । इसका तात्पर्य यह है कि जगत मे अणु अथवा महत्परिमाणवाली जो कुछ वस्तु है वह उस नित्यस्वरूप आत्मा से आत्मवान् है । वह आत्मा ही ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय की 'गुहा' अर्थात् हृदय मे निहित है । अन्तरात्मरूप से स्थित है । अत यहाँ 'गुहा' हृदय का पर्याय है ।

आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्[३] ।

आत्मा महान् दिव्य और अचिन्त्यरूप है । वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर रूप मे भासमान होता है । वह दूर से भी दूर है तो इस शरीर मे अत्यन्त समीप भी है । वह चेतनावान् प्राणियो मे इस शरीर के भीतर उनकी बुद्धि रूपी गुहा (गुफा) मे छिपा रहता है ।[४] 'गुहाया बुद्धि-लक्षणायाम् ।'[५] यहाँ गुहा शब्द का अर्थ, 'बुद्धि रूपी गुफा' है ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ४०९

२ Concordance p 335.

३ कठ उप १ २ २०., श्वे उप ३ २०

४ मु उप ३ १ ७

५ शा भा वही

श्वेताश्वतरोपनिषद् मे ध्यान के लिये उपयुक्त स्थानो का निर्देश करते हुए बताया गया है कि प्राणियो को मन के अनुकूल, नेत्रो को पीडा न देनेवाले गुहादि एकान्त और वायुशून्य स्थान पर बैठकर चित्त को सयमित करना चाहिये ।[१] यहाँ 'गुहा' शब्द का अर्थ 'गुफा' है । वायुरहित स्थान का अभिप्राय यह है कि जहाँ हवा के तेज झोके न आते हो । अत गुफा झझावात और हवा की तेज गति से अप्रभावित रहती है । इसीलिये गुफा ध्यान का मनोनुकूल स्थान बताई गई है ।

जब साधक सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म को बुद्धि रूप परम आकाश मे निहित जानता है अथवा देखता है तो ब्रह्मरूप हो जाता है ।

यो वेद निहितं गुहाया परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।[२]

हृदयाकाश ही परमाकाश है । उस हृदयाकाश मे जो बुद्धिरूप गुहा है उसमे ब्रह्म निहित है । अर्थात् उस बुद्धि वृत्ति से यह ब्रह्म व्यावृत (पृथक्) रूप से स्पष्टतया उपलब्ध होता है । अन्यथा ब्रह्म का किसी देश (स्थान) या काल से सम्बन्ध नही है क्योकि वह निर्विशेष है और सर्वगत है ।

निर्वचन

त दुर्दर्श गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।[३]

अर्थात् परमतत्त्व आत्मा अतिसूक्ष्म होने के कारण 'दुर्दर्श' है । जिसका कठिनता से दर्शन हो उसे 'दुर्दर्श' कहते है । गूढ अर्थात् गहन स्थान मे रहने वाले अथवा गुहा अर्थात् बुद्धि मे उपलब्ध होने के कारण उसी मे स्थित (अनुप्रविष्ट) तथा गह्वरेष्ठ - गह्वर अर्थात् विषम स्थान मे रहने वाले आत्मा को जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोक को त्याग देता है । गुहा शब्द गुह् धातु सवरणे से निष्पन्न हुआ है । सवरण अर्थात् आच्छादन अर्थ वाले 'गुह्' धातु से 'गुहा' शब्द व्युत्पन्न होता है । इस 'गुहा' मे ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता पदार्थ निगूढ याने कि छिपे हुए है, इसलिये 'गुहा' बुद्धि का नाम है । अथवा उसमे भोग औरअपवर्ग — ये पुरुषार्थ निगूढ अवस्था

---

१ मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् । श्वे उप. २ १०

२ तै उप २ १ १, गुहा प्रविश्य तिष्ठन्त यो भूतेभिर्व्यपश्यत । कठ उप २ १ ६

३ कठ उप १ २ १२

मे स्थित है, इसलिये वह गुहा है ।[१] निरुक्त के अनुसार भी गुहा शब्द 'गुहा गूहते'[२] से निष्पन्न होता है । इसलिए उपर्युक्त निर्वचन से यह ज्ञात हो जाता है कि परमतत्त्व आत्मा परमाकाश, हृदयाकाश मे जो बुद्धि रूपी गुहा (गुफा) है उसमे निगूढ अर्थात् छिपा रहता है ।

१ गूहते सवरणार्थस्य निगूढा अस्या ज्ञानज्ञेय ज्ञातृपदार्था इति गुहा बुद्धि । गूढावस्था भोगापवर्गौ पुरुषार्थाविति वा तस्या परमे प्रकृष्टे व्योमन्व्योम्न्याकाशेव्याकृताख्ये ।— तै उप शा भा २ १ १

२ निरुक्त १ ३ ९

घ्राण

शाब्दिक अर्थ

घ्राण शब्द (वि) ध्रा धातु + क्त प्रत्यय लगने से निष्पन्न होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है — सूँघा हुआ। (न) घ्राण शब्द घ्रा धातु + लयुट् से बनता है। इसके अर्थ है — गध, सूँघना, सूँघने की शक्ति और नाक।[१]

उपनिषद् और घ्राण

प्रमुख उपनिषदो मे 'घ्राण' शब्द केवल चार बार उपलब्ध होता है[२]। महर्षि श्वेतकेतु चित्र गाङ्ग्यायनि से पूछते है कि 'मनुष्य किसके द्वारा गन्धो को सूँघता है ? **केन गन्धानिति ?**। आचार्य उसे उत्तर देते है कि, 'हे सोम्य! मनुष्य घ्राण के द्वारा गन्धो को ग्रहण करता है और छोडता है। **घ्राणेनेति**

घ्राण एवास्मिन् सर्वे गन्धा अभिविसृज्यन्ते घ्राणेन सर्वान् गन्धानाप्नोति।[३]

निर्वचन

घ्राण च घ्रातव्यं च।[४]

अर्थात् 'घ्राण' इन्द्रिय है। घ्राणेन्दिय का विषय गन्ध (घ्रातव्य) है। गन्ध को ग्रहण करने के कारण ही उसे 'घ्राण' कहा जाता है। जाग्रतावस्था मे जब मनुष्य यह सोचता है कि, 'मै सुगन्धि या दुर्गन्धि को सूँघूँ तब वह आत्मवान्' होने के कारण ऐसा सोच पाता है'।[५] इसका अभिप्राय यह हुआ कि आत्मा ही घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्धज्ञान को प्राप्त करती है। इसीलिये कहा गया है कि गन्ध के ज्ञान के लिये घ्राण है।**गन्धाय घ्राणाम्।**[६] परन्तु यह समस्त इन्द्रियवर्ग जड है। आत्मतत्त्व अर्थात् चेतनतत्त्व से प्रेरित होकर ये सब अपना-अपना कार्य करते है।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ४२६

२ concordance p. ३४५

३ कौ उप १७,३४

४ प्रश्न उप ४८

५ यो वेदेद जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ। छा उप ८१२४

६ वही

क्षत्र

शाब्दिक अर्थ

क्षत्र शब्द क्षत् धातु + क्विप्, क्षत् तत त्रायते, त्रै धातु + क से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ है — अधिकार, प्रभुता, शक्ति क्षत्रिय जाति का पुरुष या क्षत्रिय जाति।[१]

उपनिषद् और क्षत्र

प्रमुख उपनिषदो मे 'क्षत्र' शब्द बाईस बार उपलब्ध होता है।[२] प्राय क्षत्र शब्द का प्रयोग वहाँ चातुर्वण्य के दूसरे वर्ण 'क्षत्र' (क्षत्रिय) के लिए हुआ है।[३] सृष्टि के प्रारभ मे ब्रह्म एक ही था। अकेले होने के कारण वह विभूतियुक्त कर्म करने मे समर्थ नही हुआ। उसने श्रेयोरूप 'क्षत्र' अर्थात् क्षत्रिय की रचना की। **श्रेयो रूपमत्यसृत क्षत्रम्।**[४] देवो मे क्षात्र-धर्म के प्रतिनिधि है — इन्द्र (देवताओ का राजा), वरुण (जलचरो का राजा), सोम (ब्राह्मणो का राजा), रुद्र (पशुपति), पर्जन्य (विद्युतादि का राजा), यम (पितरो का राजा), मृत्यु (रोगादि का स्वामी), ईशान (प्रकाशमानो का राजा) आदि। ब्रह्म ने इन सभी को उत्पन्न किया है। क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नही है। इसीलिये राजसूय यज्ञ मे ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है। वह क्षत्रिय मे ही अपने यश को स्थापित करता है। यह जो ब्रह्म है, वह क्षत्रिय की योनि है, क्षात्रधर्म का आधार है, उसका कारण है। केवल

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ-पृ ३७१

२ Concordance p 317-18

३ तदेतद् ब्रह्म क्षत्र विट्शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्य शूद्रेण शूद्र।
बृह उप-१४१५, २४५-६

४ वही १४११

राज्याभिषेक के अवसर पर राजा ऊँचे स्थान पर बैठकर उत्कृष्टता को प्राप्त करता है परन्तु जैसे ही राजसूय यज्ञ पूर्ण होता है वैसे ही वह ब्राह्मण का आश्रय ग्रहण करता है[१] । अत 'क्षत्र'शब्द से क्षत्रिय अर्थात् राजा ही अभिप्रेत है । देवक्षत्रसृष्टि के बाद ही मानव क्षत्रियो की सृष्टि हुई ।

प्रश्नोपनिषद् मे वर्णित है कि इस सृष्टि को थामने वाली भौतिक शक्ति 'क्षत्र' और आत्मिक शक्ति 'ब्रह्म' प्राण पर आश्रित है । जैसे रथ की नाभि मे अरे जुडे रहते है वैसे ही श्रद्धा से लेकर नाम पर्यन्त समस्त पदार्थ, ऋक्, यजु- साम और यज्ञ प्राण मे स्थित है ।[२] बृहदारण्यकोपनिषद् मे इसी प्राण की सज्ञा क्षत्र है । **क्षत्रं प्राणे वै क्षत्र प्राणो हि ।** अर्थात् प्राण ही क्षत्र है, प्राण ही क्षत्र है ऐसा लोक मे प्रसिद्ध है ।

निर्वचन

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्त्रमत्रमाप्नोति ।[३]

प्राण की क्षत्र सज्ञा क्यो है ? क्योकि प्राण शरीर की 'क्षत' से अर्थात् शस्त्रादि से उत्पन्न होने वाली पीडा से रक्षा करता है । इसका अभिप्राय यह है कि जब शरीर पर कोई शस्त्रास्त्रो से प्रहार करता है तो वह क्षत-विक्षत हो जाता है । प्राण ही शरीर की शस्त्रजनित क्षत से रक्षा करता है । अर्थात् घावो को पुन मास से भर देता है । अत शरीर की क्षत (घावों) से रक्षा करने के कारण ही प्राणो का क्षत्रत्व प्रसिद्ध है । एतदर्थ प्राण की क्षत्र सज्ञा है ।

क्षत्र शब्द की इस उपर्युक्त निरुक्ति से ज्ञात होता है कि शस्त्र द्वारा राजा राज्य की रक्षा करते थे और प्राण शरीर की क्षत से अर्थात् क्षति से रक्षा कर उसके घावो को पुन मास से भर कर स्वस्थ बना देता है ।

---

१ ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत । क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुण सोमो रुद्र पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति । तस्मात्क्षत्रात्पर नास्ति तस्माद् ब्राह्मण क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव ...। वही १ ४ ११

२ अरा इव रथनाभौ प्राणो सर्व प्रतिष्ठितम् । ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञ क्षत्र ब्रह्म च ।प्रश्न उप. ४ २, ६

३ बृह उप ५ १३ ४

चक्षुस्

शाब्दिक अर्थ

चक्षुस् शब्द (न) चक्ष् धातु + उसि से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ है— नेत्र, दृष्टि, देखने की शक्ति।[१]

उपनिषद् और चक्षुस्

प्रमुख उपनिषदो मे 'चक्षुस्' शब्द लगभग पचहत्तर बार अनेक अर्थो मे मिलता है।[२] ऐतरेयोपनिषद् से वर्णित है कि देवताओ ने इन्द्रियो के रूप मे मानव-शरीर मे प्रवेश किया। आदित्य चक्षु होकर आखो मे प्रविष्ट हो गया।[३] इसीलिये चक्षु को आदित्य कहा गया। **यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः**।[४] सूर्य सम्पूर्ण लोको का चक्षु है।[५] वह अपने प्रकाश से समस्त लोको का उपकार करता है। परन्तु फिर भी नेत्रसम्बन्धी बाह्यदोषो से लिप्त नही होता है।[६] पॉच कर्मेन्द्रियो मे से चक्षु एक है।[७] परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि प्राणियो के चक्षुओ को प्रेरित करने वाला कौन है ?[८] आत्मा ही चक्षुओ का प्रेरक तत्त्व है। इसीलिये उसे चक्षु का चक्षु कहा गया है।**चक्षुषश्चक्षु** ।[९] परन्तु नेत्रेन्द्रिय उसे देख नही पाती।[१०]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ४२८

२ Concordance p 346-47

३ आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्। ऐत उप १ २ ४

४ बृह उप ३ १ ४,

५ सूर्यश्चक्षु । वही १.१ १

६ सूर्योयथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषै । कठ उप ५ ११

७ चक्षु श्रोत्र मनो वाक् त्वक्। तै उप १ ७ १

८ केनेषिता वाचमिमा वदन्ति चक्षु क उ देवो युनक्ति। केन उप १ १

९ वही १ २, बृह उप ४ ४ १८

१० न तत्र चक्षुर्गच्छति। वही १ ३

अन्तर्यामी अमृत आत्मा नेत्र मे रहनेवाला नेत्र के भीतर है, जिसे नेत्र नही जानता, नेत्र जिसका शरीर है और वह भीतर रहकर नेत्र का नियमन करता है ।

यश्चक्षुषि तिष्ठ ँ् श्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।[१]

राजर्षि जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा कि, 'सत्यता क्या है' ?**का सत्यता ।** ऋषि ने उत्तर दिया, 'हे सम्राट् । चक्षु ही सत्यता है' । **याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति ।**[२] क्योकि कान से सुना हुआ तो मिथ्या भी हो सकता है । किन्तु नेत्र से देखा हुआ मिथ्या नही हो सकता । जब कोई घटना घटती है तो मनुष्य पूछता है कि, 'तुमने देखा है या उसके बारे मे सुना है । जब वह व्यक्ति कहता है कि, 'मैने ऑख से उस घटना को घटते हुए देखा है तभी हम उसे सत्य मानते है ' । इसके विपरीत यदि उसने उस घटना के बारे मे केवल सुना होता है तो हम उसे सत्य नही मानते । अत नेत्रेन्द्रिय से देखा हुआ ही सत्य होता है ।[३]

जब मनुष्य गहरी नीद मे सोता है तो उस अवस्था को 'सुषुप्ति' कहते है । इसी को 'स्वपिति' भी कहते है । 'सुषुप्ति' मे सम्पूर्ण इन्द्रिय-वर्ग प्राण मे लीन हो जाता है ।[४] उस अवस्था मे वाक्, चक्षु, श्रोत्र ओर मन-ये सभी गृहीत रहते है । उस समय पुरुष का नाम 'स्वपिति' होता है ।[५] जब मनुष्य मरणासन्न होता है तो सम्पूर्ण इन्द्रिय-वर्ग लिङ्गदेह के साथ एक रूप हो जाता है । इसीलिये लोग कहते है कि, 'वह देखता नही, सुनता नही, और जानता भी नही ' । तब समस्त इन्द्रियो का हृदय मे उपसहार हो जाता है । हृदय का अग्रभाग अर्थात् बाहर निकलने का मार्ग अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है । उसी से यह आत्मा चक्षु से, या मूर्द्धा से अथवा शरीर के अन्य अवयवो से उत्क्रान्त करता है ।

एतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रमान्तं . . . .. ।[६]

---

१ बृह उप ३ ७ १ ८

२ वही ४ १ ४

३ वही

४ प्राण चक्षु अप्येति । छा उप ४ ३ ३

५ छा उप २ ७ १

६ बृह उप ४ ४ २

यदि मनुष्य का ज्ञान या कर्म आदित्यलोक की प्राप्ति का कारण होता है तो आत्मा चक्षु द्वार से उत्क्रमण करता है । मनुष्य जब जन्म लेता है तो आदित्य चक्षु बनकर नेत्र मे प्रविष्ट होता है और जब उसकी मृत्यु होती है तो चक्षु पुन आदित्य मे लीन हो जाता है ।[१] कार्य पुन अपने कारण मे समा जाता है । चक्षु ही उद्गीथ है ।[२] चक्षु ही ब्रह्म है ।[३] चक्षु ही सत्य है ।[४]

निर्वचन - १

पश्यॅ्श्चक्षुः ।[५]

अर्थात देखने के कारण चक्षु है । चक्षु दर्शन गुण के कारण आत्मा का कर्मानुसारी नाम है ।

निर्वचन - २

द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः[६]

अर्थात् चक्षु-नेत्रेन्द्रिय ने व्रत लिया कि, 'मै देखती ही रहूॅगी, तब मृत्यु ने श्रम रूप से उससे सम्बन्ध किया और उसमे व्याप्त हो गई । इसलिये नेत्रेन्द्रिय थकती है और थकने पर देखना बन्द कर देती है । यो भी चक्षु स्वय नही देखते । आत्मा की प्रेरक शक्ति से ही वे अपने विषयो से सयुक्त होते है ।देखने के कारण ही आत्मा चक्षु कहलाती है । 'चक्षु' आत्मा का कर्मानुसारी नाम है ।

निर्वचन- ३

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्ण चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ ।[७]

अर्थात् जिसमे ये चक्षुद्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है । उसे देखने के लिये अर्थात् उसके रूप की उपलब्धि करने के लिये चक्षु करण है । अत चाक्षुष पुरुष आत्मा चक्षु रूपी करण से जाग्रतावस्था मे जगत् को देखता है ।

---

१ चक्षुरादित्य अप्येति । बृह उप ३ २ १३
२ छा उप २ ७ १
३ बृह उप ४ १ ४
४ वही ५ १४ ४
५ वही १ ४ ७
६ वही १ ५ २१
७ छा उप ८ १२ ४

निर्वचन - ४

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ।[१]

अर्थात् चक्षु ही ग्रह है, रूप अतिग्रह है । चक्षु से ही मनुष्य सासारिक विषयो के रूपो को देखता है । सब रूपो का चक्षु ही एक अयन है ।[२] आदित्य नेत्र मे प्रतिष्ठित है । क्यो ? क्योकि चक्षु से आदित्य (सूर्य) उत्पन्न हुआ है ।[३] चक्षु किसमे प्रतिष्ठित है ? रूप मे, क्योकि रूपात्मक चक्षु रूप को ग्रहण करने के लिये ही रूप से प्रेरित होता है और जिन रूपो द्वारा वह प्रयुक्त होता है, उन्होने अपने को ग्रहण करने के लिये ही चक्षु को उत्पन्न किया है । अत आदित्य के सहित चक्षु प्राची दिशा मे और उस दिशा मे स्थित समस्त पदार्थो के सहित रूपो मे प्रतिष्ठित है । वे रूप कहॉ प्रतिष्ठित है ?ऐसा प्रश्न होने पर श्रुति का कथन है कि 'रूप हृदय मे प्रतिष्ठित है । रूप हृदय से आरभ (उत्पन्न) होन वाले है, हृदय ही रूपाकार से परिणत होता हे क्योकि सब लोग हृदय से ही रूप को जानते है । अत हृदय मे ही रूप प्रतिष्ठित है । वासनारूप रूपो का स्मरण भी हृदय से होता है ।[४]

उपर्युक्त विवेचन और निर्वचनो से 'चक्षुस्' के विशद् स्वरूप का बोध होता है ।

---

१ बृह उप ३ २ ५

२ सर्वेषा् रूपाणां चक्षुरेकायनमेव । वही २ ४ ११

३ चक्षो सूर्यो अजायत । यजु ३१ १२
— चक्षुष आदित्य । ऐत उप १ ४

४ किन्देवतोऽस्या प्राच्या दिश्यसीत्यादित्य देवत इति स आदित्य कस्मिन् प्रतिष्ठित ,इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षु प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्ति । बृह उप ३ ९ २०

चर्या

शाब्दिक अर्थ

चर्य शब्द चर् धातु + यत् से बनता है । चर्या शब्द (स्त्री) चर्य + टाप् से निष्पन्न होता है । 'चर्या' के शाब्दिक अर्थ है —गति, चाल, चालचलन, व्यवहार, आचरण, अभ्यास, अनुष्ठान, रक्षा, रस्म और रीति ।[१]

उपनिषद् और चर्या

प्रमुख उपनिषदो मे 'चर्या' शब्द केवल एक बार[२] 'भैक्ष' शब्द के साथ मुण्डकोपनिषद्[३] मे ही उपलब्ध होता है ।इस सन्दर्भ मे यह शब्द वानप्रस्थियो और सन्यासियो के आचरण को ही द्योतित करता है । शान्त और विद्वान् पुरुष वन मे रहकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए तप और श्रद्धा का सेवन करते है ।वे मृत्यूपरान्त पापरहित होकर सूर्यद्वार अर्थात् उत्तरायण मार्ग से वहाँ जाते है , जहाँ वह अमृत और अव्ययस्वरूप पुरुष रहता है ।

निर्वचन

भैक्षचर्या चरन्तः ।[४]

इस निरुक्ति मे भी चर्या शब्द का अर्थ 'चरन्त ' अर्थात् आचरण ही है ।चर्या शब्द की इस औपनिषदिक निरुक्ति से वानप्रस्थियो एव सन्यासियो के आचरण का बोध होता है ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ४३७

२ Concorance p 703

३ मु उप १ २ ११

४ वही

चित् = चित्त

शाब्दिक अर्थ

चित्त (वि) चित् धातु + क्त से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — देखा हुआ, पहचाना हुआ, विचारित और मनन किया हुआ । निर्धारित इच्छित ।[१]

उपनिषद् और चित्

प्रमुख उपनिषदो मे 'चित्' (चित्त) शब्द ग्यारह बार मिलता है ।[२] छान्दोग्योपनिषद् मे चित्त को सकल्प से उत्कृष्ट बताया गया है । **चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो** ।[३] क्योकि चित्त ही सकल्प का मूल है । सकल्प चित्तमय है तथा चित्त मे ही प्रतिष्ठित है । चित्त ही इसका एकमात्र आश्रय है । चित्त ही आत्मा है और चित्त ही प्रतिष्ठा है ।[४] चित्त ही ब्रह्म है ।[५] वह सूक्ष्म आत्मा चित्त से जानी जाने योग्य है । वह कहॉ जानी जाने योग्य है ? ऐसा प्रश्न होने पर श्रुति वर्णन करती है कि जिस शरीर मे प्राण पञ्चधा विभक्त होकर सम्यक् रूप से प्रविष्ट हो रहा है उसी शरीर मे हृदय के भीतर वह चित्त द्वारा जानी जाने योग्य है । जैसे दूध घृत से और काष्ठ अग्नि से व्याप्त है वैसे ही सम्पूर्ण प्रजा के चित्त रूपी मनके प्राणो के धागो मे ओत-प्रोत है, क्योकि लोक मे प्रजा के अन्त करण चेतनायुक्त ही है । चित्त रूपी मनके को प्राणो के धागे से निकालकर आत्मा के धागे मे पिरोने की आवश्यकता है । जब चित्त शुद्ध हो जाता है अर्थात् राग- द्वेष आदि मलो से रहित

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ४४३

२ Concordance p 357

३ छा उप ७ ५ १

४ एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मनि चित्ते प्रतिष्ठितानि — चित्ं ह्येवैषामेकायन चित्तमात्मा चित्त प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति । वही ७ ५ २

५ स यश्चित्त ब्रह्मेत्युपास्ते — वही ७ ५ ३

हो जाता है तब उसे उस निर्मल चित्त मे आत्मा का साक्षात्कार होता है ।[१] प्रश्नोपनिषद् मे ऋषि वर्णित करते है कि चित्त और चित्त के विषय सुषुप्ति मे आत्मा मे लीन हो जाते है ।

निर्वचन

चित्तं च चेतयितव्यम् ।[२]

चित्त क्या है ? **चित्तं च चेतनावदन्तःकरणम् चेतयितव्य ह ।**[३]

अत चित्त, 'चित्ति सज्ञाने' अथवा 'चित् सञ्चेतने' से भी निष्पन्न होता है ।

निरुक्ताकार के अनुसार 'चित्त चेतते[४], अर्थात् 'चित्त' शब्द चित् धातु (जानना) से निष्पन्न होता है । शकराचार्य के अनुसार, 'चित्त चेतयितृत्वम्' चित्त का अर्थ है 'चेतयितृत्व', अर्थात् प्राप्त काल के अनुरूप बोधयुक्त होना तथा भूत और भविष्यत् विषयो के प्रयोजन का निरूपण करने मे समर्थ होना ।[५] सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि 'चित्त' शब्द मे चेतन तत्त्व प्रधान है । जब मनुष्य चेतनावान् होता है तभी सङ्कल्प करता है । तदुपरान्त ही मनन कर कर्म मे प्रवृत्त होता है । औपनिषदिक दर्शन मे आत्मा ही सत् + चित् + आनन्द है । अत शरीर मे 'चित्त' होने का तात्पर्य है कि चेतनावान् होना । इसीलिये कहा गया है कि **यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयते ।**[६]

---

१ एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राण पञ्चधा सविवेश ।
प्राणैश्चित्त सर्वमोत प्रजाना यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा । मु उप ३ १ ९

२ प्रश्न-उप ४८

३ चित्तं च चेतनावदन्त करणम्, चेतयितव्य च तद्विषय । प्रश्न उप शा भा ४ ४ २

४ निरुक्त १ ६

५ चित्त चेतयितृत्व प्राप्तकालानुरूपबोधवत्त्वमतीतानागत विषयप्रयोजननिरूपण सामर्थ्यं च तत् संकल्पादपि भूय- । छा उप शा भा ७ ५ १

६ छा उप ७ ५ १.

छन्दस्

शाब्दिक अर्थ

छन्दस् शब्द छन्द् धातु + असुन् से बना है । इसके अर्थ है — कामना, अभिलाषा, स्वेच्छाचार, वेद, वृत्त, पद्य एव छन्दशास्त्र ।[१]

उपनिषद् और छन्दस्

प्रमुख उपनिषदो मे 'छन्दस्' शब्द छ विभिन्न अर्थो मे उपलब्ध होता है ।[२] बृहदारण्यक-उपनिषद् मे, ऋक्, यजु, साम के साथ 'छन्दस्' का उल्लेख मिलता है ।[३] शकराचार्य इस पर भाष्य लिखते हुए वर्णित करते है कि यहाँ 'छन्दस्' का अर्थ गायत्री आदि सात छन्दो से युक्त स्तोत्र ही है ।[४] श्वेताश्वतर उपनिषद् मे 'छन्दस्' शब्द वेद के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।[५] और इसकी उत्पत्ति ब्रह्म से वर्णित की गई है । कूटस्थ ब्रह्म अपनी स्वरूपभूता शक्ति-माया से इन सबकी रचना करता है ।[६] 'ओङ्कार' छन्दो मे अर्थात् वेदो मे ऋषभ छन्द की भाँति विश्वरूप है । कैसे ? सम्पूर्ण वाणी मे व्यक्त होने के कारण ओङ्कार सर्वमय है । जैसे शङ्कुओ से अर्थात् (पत्तो की) नसो से सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते है वैसे ही ओङ्कार से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त रहती है । ओङ्कार ही यह सब कुछ है । छन्द अर्थात् वेद ही अमृत है ।यह ओङ्कार छन्दो मे भरे हुए अमृत से अविर्भूत होता है । यहाँ इस सन्दर्भ मे 'छन्दस्' शब्द का अर्थ वेद ही है ।[७]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ४५३

२ Concordance p 362

३ यदिद किञ्चर्चो यजूँषि सामानि छन्दाँसि ..... । बृह उप १ २ ५

४ छन्दासि च सप्त गायत्र्यादीनि स्तोत्रशस्त्रादि..... । बृह उप शा भा वही

५ छन्दासि यज्ञा क्रतवो व्रतानि । श्वे उप ४ ९

६ अस्मान्मायी सृजते । वही

७ यश्छन्दसामृषभो विश्वरुप छन्दोभ्योऽध्यमृतासबभूव । तै उप १ ४ १

मुण्डकोपनिषद् मे 'छन्दस्' शब्द वेदाङ्ग के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । परा और अपरा विद्या के दो स्वरूप है ।

तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।[१] ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्यौतिष् — ये अपरा विद्या मे परिगणित है । जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा विद्या है । इस प्रकार उपनिषदो मे छन्दस् शब्द— वेदो के अर्थ मे, गायत्री आदि छन्दो के अर्थ मे और वेदाङ्ग के अर्थ मे वर्णित हुआ है ।

निर्वचन

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविश ँ स्ते छन्दोभिरच्छादयन् । यदेभिरच्छादय ँ स्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।[२]

अर्थात् देवता मृत्यु से भयभीत हो गए थे । मृत्यु से डरे हुए देवताओ ने त्रयी विद्या अर्थात् वेदत्रयी मे प्रवेश किया । उन्होने छन्दो से अपने आप को आच्छादित कर लिया अर्थात् अपने को ढॉप लिया । देवो ने मृत्यु से बचने के लिये छन्दो से अपने को आच्छादित कर लिया था । इसीलिए छन्दो को 'छन्द' अर्थात् आच्छादित करने वाला कहा जाता है । यही 'छन्दो' का 'छन्दत्व' है । परन्तु जैसे मछेरा जल मे छिपी मछलियो को देख लेता है वैसे ही ऋक्, यजु और साम मे छिपे हुए देवो को मृत्यु ने देख लिया । देव केवल वेदमन्त्रो के गायन से (पाठ से) ही मृत्यु से बचना चाहते थे । परन्तु ऐसा सम्भव नही हुआ । यह जानकर कि मृत्यु ने छन्दो मे छिपे हुए देवो को देख लिया है, वे तब ऋक्, यजु और साम के गायन से ऊपर उठकर स्वर मे अर्थात् ओङ्कार इस अक्षर मे प्रविष्ट हो गये ।[३] ओम् यही 'स्वर' है, 'अमृत' है, 'अक्षर' है, 'अभय' है । इसी 'ओम्' मे लीन होकर देवता अमृत हो गये ।[४]

अत इस निरुक्ति के आधार पर देवताओ को अच्छादित करने के कारण ही छन्दो को छन्द कहा जाता है ।

---

१ मु उप १ १ ५
२ छा उप १ ४ २
३ वही १ ४ ३
४ वही १ ४ ४

तज्जलान्

शाब्दिक अर्थ

लौकिक सस्कृत मे यह शब्द उपलब्ध नही होता है ।[१]

उपनिषद् और तज्जलान्

प्रमुख उपनिषदो मे 'तज्जलान्' शब्द केवल एक बार छान्दोग्योपनिषद् मे मिलता है ।[२] महर्षि शाण्डिल्य 'ब्रह्म' की 'तज्जलान् इस रूप मे व्याख्या करते है । समस्त दार्शनिक तत्त्वमीमासा को 'एकाक्षर' मे अभिव्यक्त करने की यह उनकी विशिष्ट शैली है ।

निर्वचन

सर्व खल्विद ब्रह्म तज्जलानिति ।[३]

यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय ब्रह्म ही है । यह ब्रह्म 'तज्जलान्' है ।

तज्ज — तेज, जल, और अनादि क्रम से सम्पूर्ण जगत् उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है । इसलिये वह 'तज्ज' है ।

तल्ल — सृष्टि क्रिया के विपरीत क्रम से जगत् उस ब्रह्म मे ही लीन होता है अर्थात् तादात्म्यरूप से उसमे लीन हो जाता है । इसलिये वह 'तल्ल' है ।

तदन — सृष्टि की स्थिति के समय सम्पूर्ण प्राणिवर्ग उसी मे 'अनन'-प्राणन अर्थात् चेष्टा करता है ।[४] इसलिये वह 'तदन' है ।

अत यह सारा जगत् ब्रह्म ही है, क्योकि वह तीनो कालो मे ब्रह्मात्मरूप से समान रहता है । ब्रह्म के बिना जगत् का कोई अस्तित्व नही है । यह जगत् निश्चित रूप से ब्रह्म ही है, ऐसा 'तज्जलान्' की औपनिषदिक निरुक्ति से ज्ञात होता है ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ

२ Concordance p 390

३ छा उप ३ १४ १

४ छा उप शा. भा वही

तद्वन

शाब्दिक अर्थ

तद्वन शब्द लौकिक साहित्य मे उपलब्ध नही होता है ।[१]

उपनिषद् और तद्वन

उपनिषद्वाड्मय मे भी 'तद्वन' शब्द केवल एक बार[२] केनोपनिषद् मे प्राप्त होता है । ब्रह्म को ही यहाँ 'तद्वन' कहा गया है ।

निर्वचन

तद्ध तद्वन नाम तद्वनमित्युपासितव्य स य एतदेव वेदाऽभि हैन॑ सर्वाणि भूतानि सवाञ्छन्ति ।[३]

अर्थात् वह ब्रह्म ही 'तद्वन' नामवाला है । (यह षष्ठी तत्पुरुष समास है) । अर्थात् यह प्राणिवर्ग का प्रत्यगात्मस्वरूप होने के कारण वन (वननीय) अर्थात् भजनीय है । इसलिये इसका नाम 'तद्वन' है । ब्रह्म का यह 'तद्वन' नाम गुणपरक है ।[४] वह ब्रह्म तद्वन है अर्थात् वह ब्रह्म तत् अर्थात् परोक्ष और वन — अच्छी तरह से भजन करने योग्य हे । (वन् धातु का अर्थ अच्छी प्रकार भजन करना है ।) तत् शब्द जिसका कर्मभूत है ऐसे वन् धातु से तद्वन शब्द बनता है । ब्रह्म का यह नाम

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ

२ concordence 392

३ केन उप ४६

४ तद् ब्रह्म ह किल तद्वन नाम तस्य वन तद्वन तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वाद्वन वननीय सम्भजनीयम् । अत तद्वन नाम ।शा पदभाष्य वही

गुणविशेष के कारण है ।[१] इस गुण के कारण वह 'वन' है । अत वन शब्द वाञ्छधातु (वाचि इच्छायाम्) से अथवा धातु वन (वन् सम्भक्तौ) से निष्पन्न होता है । अत तद्वन के इस औपनिषदिक निर्वचन से ब्रह्म के गुणपरक पर्याय का बोध होता है ।

१ तद्ध तद्वनम् तदेतब्रह्म तच्च तद्वन च तत्परोक्ष वन सम्भ जनीयम् । वनतेस्तत्कर्मणस्तस्मात्तद्वन नाम । ब्रह्मणो गौण हीद नाम । तस्मादनेन गुणेन तद्वनमित्युपासितव्यम् । शा वाक्यभाष्य वही

तपस्

शाब्दिक अर्थ

तपस् शब्द (न) तप् धातु + असन् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है— उष्णता, धार्मिक अनुष्ठान, ध्यान, आलोचना, पुण्य-कर्म, अपने वर्ण या आश्रम का शास्त्र-विहित कर्मानुष्ठान और जनलोक के ऊपर का लोक ।[१]

उपनिषद् और तपस्

प्रमुख उपनिषदो मे 'तपस्' शब्द लगभग चालीस बार[२] अनेक सदर्भो मे विभिन्न अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है । मनुष्य जीवन मे 'तप' का बहुत महत्त्व है । तप ही नित्य कर्त्तव्य है— ऐसा 'तपोनित्य पौरुशिष्टि' का मत है । स्वाध्याय और प्रवचन ही कर्त्तव्य है ऐसा 'नाक मौदगल्य' का विचार है । अत वे दोनो ही तप है, वे ही तप है ।[३] मानवजीवन एक यज्ञ है । तप, दान, आर्जव-सरलता, अहिसा और सत्यवचन इस यज्ञ की दक्षिणा है ।[४] जैसे यज्ञ दक्षिणा के बिना पूर्ण नही होता है । वैसे ही मानव जीवन भी तप[५] दान आदि के बिना पूर्णता को प्राप्त नही करता है । धर्मरूप वृक्ष की तीन स्कन्ध अर्थात् आधार - स्तम्भ है ।

(१) प्रथम स्कन्ध — यज्ञ, अध्ययन और दान

(२) द्वितीय स्कन्ध — तप

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ४८८

२ Concordance p 396-97

३ तप इति तपोनित्य पौरुशिष्टि स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्य । तद्धि तपस्तद्धि तप । तै उप १ ९ १

४ अथ यत्ततपो दानमार्जवमहिँसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा- । छां उप ३ १७.४

५ तप एव द्वितीय । वही २ २३ १

(३) तृतीय स्कन्ध — जो ब्रह्मचारी आचार्यकुल मे ही शरीर को क्षीण कर देता है ।[१]

अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) के तप, ब्रह्मचर्य, और दम आधार है । इन्ही पर ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित है । ओङ्कार ही वह पद है जिसका सम्पूर्ण वेद वर्णन करते है और समस्त तप जिसकी प्राप्ति के साधन है ।[२] जैसे तिलो मे तैल, दही मे घृत, स्रोतो मे जल और काष्ठो मे अग्नि की उपलब्धि होती है वैसे ही सत्य और तप के द्वारा आत्मा का आत्मा मे ही साक्षात्कार होता है ।[३] कैसे होता है ? जो आत्मविद्या और तप का मूल है तथा जिसमे परम श्रेय आश्रित है उस सर्वव्यापी आत्मा का दूध मे विद्यमान घृत के समान साधक साक्षात्कर करता है ।[४] इसलिये कहा गया है कि 'तप' से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर,[५] क्योकि तप से पाप का नाश होता है और अमरत्व की प्राप्ति होती है' ।[६] आत्मा सर्वदा सत्य, तप, सम्यक्ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ।[७] तप से ब्रह्म को जानने का आदेश है । **तपसा ब्रह्म विजज्ञासस्व** । तप ही ब्रह्म है । **तपो ब्रह्मेति** ।[९] यह विश्व, कर्म और तप पुरुष ही है ।[१०] उस पुरुष से ही साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राणापान, व्रीहि, यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि सब उत्पन्न हुए है ।[११]

निर्वचन

स तपोऽतप्यत[१२] ।

---

१ छा उप २ २ ३ १ तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा । केन उप १ ४८

२ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँ्सि सर्वाणि च यद्वदन्ति । कठ उप १ २ १५

३ तिलेषु तैल दधिनीव सर्पिराप स्रोत स्वरणीषु चाग्नि ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैन तपसा योऽनुपश्यति । श्वे उप १ १५

४ वही.१ १६

५ तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तै उप ३ २ ५

६ तपसा कल्मष हन्ति विद्ययामृतमश्नुते । मनु १२ १०४

७ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । मु उप ३ १ ५

८ तै उप ३ ३ १, बृह उप ४४२२

९ तै उप ३ ३ १

१० पुरुष एवेद विश्व कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । मु उप २ १ १०

११ वही २ १ ७.

१२ बृह उप १.२ ६

प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा वाले प्रजापति ने तप किया। उसने तप करके रयि और प्राण के जोडे को उत्पन्न किया। **प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते।**[१] प्रजापति ने कामना की 'मै बहुत हो जाऊँ अर्थात् मै उत्पन्न हो जाऊँ।' फलस्वरूप उसने तप किया और तप करके ही यह जो कुछ है, इस सपूर्ण सृष्टि की उसने रचना की। **स तपस्तप्त्वा इदं् सर्वमसृजत यदिदं किं च।**[२] इन सभी सदर्भो मे तपस् शब्द √*तप्* धातु दोह और √*तप्* धातु सन्तापे से निष्पन्न हुआ है।

---

१ प्रश्न उप १ ४

२ तै उप २ ६ १

तृप्ति

शाब्दिक अर्थ

तृप्ति शब्द (स्त्री.) तप् धातु + क्तिन् से निष्पन्न होता है । इसका शाब्दिक अर्थ है— सन्तुष्टि ।[१]

उपनिषद् और तृप्ति

प्रमुख उपनिषदो मे 'तृप्ति' शब्द केवल छ· बार[२] उपलब्ध होता है । छान्दोग्य के विभिन्न सन्दर्भो मे पॉच बार और एक बार तैत्तिरीयोपनिषद् मे प्रयुक्त हुआ है । तैत्तिरीय मे वर्णित है कि 'ब्रह्म की तृप्ति इस भाव से वृष्टि मे उपासना करनी चाहिये ।' अन्नादि के द्वारा वृष्टि तृप्ति का कारण है ।[३] अत· तृप्तिरूप से ब्रह्म ही वृष्टि मे स्थित है । पृथिवी ही अन्न है और आकाश अन्नाद है । पृथिवी मे आकाश स्थित है और आकाश मे पृथिवी स्थित है । ये दोनो अन्न ही अन्न मे प्रतिष्ठित हैं । अतः ब्रह्म तृप्ति भाव से वृष्टि मे उपास्य है ।[४] छान्दोग्योपनिषद् मे भी वैश्वानर आत्मा और तृप्ति का विशद् निरूपण किया गया है ।

वैश्वानर आत्मा

व्यष्टि	समष्टि
मस्तक	सुतेजा-द्युलोक
चक्षु	विश्वरूप-सूर्य
प्राण	पृथग्वर्त्मा-वायु

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ. पृ. ५०६

२ Concordance p 405

३ अथ दैवी । तृप्तिरिति वृष्टौ । तै. उप. ३ १० ३

४ पृथिवी वा अन्नम् । आकाशोऽन्नाद । पृथिव्यामाकाश· प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता । वही ३ ९ १

देह का मध्यभाग	बहुल-आकाश
बस्ति	रयि-जल
दोनो चरण	पृथिवी
वक्षस्थल	वेदी
लोम	दर्भ
हृदय	गार्हपत्याग्नि
मन	अन्वाहार्यपचन अग्नि
मुख	आहवनीय अग्नि[१]

वैश्वानर सज्ञक आत्मा का आस्य अर्थात् मुख आहवनीयग्नि के समान आहवनीय है क्योकि इसमे अन्न का होम होता है । जब मनुष्य अन्न ग्रहण करता है तो पहली ग्रास रूपी आहुति 'प्राणाय स्वाहा' कहकर मुख मे डालनी चाहिये उससे प्राण तृप्त होते है । प्राण ही सम्पूर्ण इन्द्रियो मे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है । प्राणो से ही समस्त इन्द्रियवर्ग अनुप्राणित है । अत प्राण के तृप्त होने पर नेत्रेन्द्रिय तृप्त होती है और नेत्रेन्द्रिय के तृप्त होने पर सूर्य और सूर्य से द्युलोक तृप्त होता है तथा द्युलोक के तृप्त होने पर द्युलोक और आदित्य जिस पर अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है ।[२]

अन्न की दूसरी आहुति मुख मे 'व्यानाय स्वाहा' कहकर देने से व्यान तृप्त होता है । व्यान से श्रोत्रेन्द्रिय, श्रोत्र से चन्द्रमा, चन्द्रमा से दिशाये तृप्त होते है तथा जिस पर चन्द्रमा और दिशाये अधिष्ठित है, वे तृप्त होते है ।[३] मुख मे अन्न की तीसरी आहुति 'अपानाय स्वाहा' कहकर आहुत करने से अपान तृप्त होता है । अपान से वागेन्द्रिय, वाक् से अग्नि, अग्नि से पृथिवी तथा जिस पर पृथिवी और अग्नि प्रतिष्ठित है, वे तृप्त होते है ।[४] अन्न की चौथी आहुति मुख मे 'समानाय स्वाहा' कहकर आहुत करने से समान तृप्त होता है । समान से मन, मन से पर्जन्य, पर्जन्य से विद्युत् और जिस पर विद्युत् और पर्जन्य अधिष्ठित होते है, वे तृप्त होते

---

१ तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयि- पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदय गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय- । छा उप.५.१८ २

२ वही.५ २० १

३ वही ५ २० २

४ वही ५ २० ३

है ।[१] अन्न की पाँचवी आहुति 'उदानायस्वाहा' कहकर आहुत करने से उदान तृप्त होता है । उदान से त्वचा, त्वचा से वायु, वायु से आकाश और जिस पर वायु और आकाश अधिष्ठित होते है, वे तृप्त होते है ।[२]

निर्वचन

तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।[३]

अर्थात् सभी के तृप्त होने पर स्वयं भोजन करने वाला भी तृप्त होता है । यही नही भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है । शरीरस्थ दीप्ति, उज्जवलता अथवा प्रगल्भता का नाम तेज है तथा स्वाध्याय एवं सदाचार होने वाला तेज ही 'ब्रह्मतेज' है । व्यष्टि से समष्टि तृप्त होती है । अतः तृप्ति शब्द तप् धातु (तृप् तृप्तौ) से व्युत्पन्न हुआ है ।

---

१ वही ५.२०.४

२ वही.५.२०.५

३ वही

त्वच्

शाब्दिक अर्थ

त्वच् शब्द (स्त्री) त्वच् धातु से निष्पन्न हुआ है ।इसके शाब्दिक अर्थ है — मनुष्य, सर्पादि की खाल, चमडी, वृक्ष की छाल, कोई चीज जो ढकने वाली हो[१] और स्पर्श ज्ञान ।

उपनिषद् और त्वच्

उपनिषद् वाड्मय मे 'त्वच्' शब्द पन्द्रह बार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है ।[२] मानव शरीर को आयतन अर्थात् आश्रय बनाकर देवताओं ने इन्द्रियो के रूप मे शरीर के विभिन्न अङ्गो मे प्रवेश किया था । ओषधि और वनस्पतियो ने लोम होकर त्वचा मे प्रवेश किया ।[३] लोम 'हिंकार' है ।लोम के पश्चात् प्रवेश करने के कारण ही त्वचा को यज्ञायज्ञीय साम मे 'प्रस्ताव'[४] कहा गया है । यह साम (सामगान) देह के अवयवों मे ही अनुस्यूत है ।जैसा वृक्ष होता है वैसा ही मनुष्य होता है । इसका तात्पर्य यह है कि वृक्ष और पुरुष के धर्म समान हैं । जैसे वृक्ष के पत्ते होते हैं वैसे ही पुरुष के शरीर में रोऐं (लोम) होते हैं । पुरुष के शरीर में जैसे त्वचा होती है वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है । जैसे पुरुष की त्वचा से रक्त बहता है वैसे ही वृक्ष की त्वचा (छाल) से भी गोंद निकलता है । वृक्ष पर कुल्हाड़ी से या तेजधार वाले चाकू से प्रहार करने पर रस याने कि गोंद बहने लगता है । वैसे ही पुरुष के

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ.पृ.५१४

२. concordance p. 418

३. ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वच प्राविशन् । ऐत.उप.१.२.४.

४. लोम हिकारस्त वक्प्रस्तावो ___। छां.उप.२.१९.१

शरीर पर चोट लगने से रक्त प्रवाहित होता है ।[१] अत· पुरुष के शरीर मे जो त्वचा है वही वनस्पत्ति याने वृक्ष के बाहरी भाग मे छाल है ।

सॉप की केचुली को भी त्वचा कहते हैं ।[२] चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक् और त्वचा ये पॉच इन्द्रियॉ है ।[३]

निर्वचन

त्वक् च स्पर्शयितव्यम् च ।[४]

त्वचा का कार्य स्पर्श है ।इसलिये त्वचा को ग्रह और स्पर्श को अतिग्रह कहा गया है । **त्वग् वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान् वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ।**[५]

त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योकि प्राणी त्वचा से ही स्पर्शो को जानता है । समस्त स्पर्शो का त्वचा एक अयन है । 'सर्वेषा स्पर्शना त्वगेकायनम् ।'[६] त्वचा ही ग्रह है ।[७] स्त्रष्टा ने जब अन्न को रचा तो वह उनसे मुँह फेरकर भागने लगा । तब उसने अन्न को विभिन्न इन्द्रियो से ग्रहण करना चाहा । यदि वह वाणी, से प्राण से, चक्षु से, श्रोत्र से, त्वचा से, मन से, और पायु सेअन्न को ग्रहण करने मे समर्थ हो जाता तो वह अन्न को बोलकर अन्न के उद्देश्य से प्राण क्रिया करके, अन्न को देखकर, अन्न के बारे मे सुनकर, अन्न को स्पर्शकर, अन्न का मन से ध्यान कर और अन्न का विसर्जन कर तृप्त हो जाता । वह अन्न को इन सबसे ग्रहण करने मे समर्थ नही हुआ । अत मे अपान वायु द्वारा ही अन्न को उसने ग्रहण किया । अपान ही अन्न का ग्रह अर्थात् ग्रहण करने वाला है ।

---

१. यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ।
तस्य लोमानि पर्णाणि त्वगस्योत्पाटिका बहि· ।
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ।
तस्मात्तदातृण्णात् प्रेति रसो वृक्षादिवाहतात् । बृह उप ३ ९.१-२

२ यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत — । प्रश्न.उप.५ ५.

३ चक्षु· श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् । तै.उप.१ ७ १

४ प्रश्न .उप ४८.

५ बृह उप ३ २ ९

६ वही २ ४ ११, ४ ५ १२

७ वही ३ २ १

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्सपृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ।[१]

उपर्युक्त सदर्भो मे त्वच् शब्द √*स्पश्* धातु से (स्पृश संप्राश्ने) निष्पन्न हुआ है । वृक्ष के सदर्भ मे यह √*त्वच्* (त्वच् सवरणे) से व्युत्पन्न होता है । क्योकि वृक्ष को जैसे छाल ढक देती है वैसे ही शरीर को त्वचा ।

---

१. ऐत.उप.३.७

द

शाब्दिक अर्थ

'द' यह देवनागरी वर्णमाला का अट्ठारहवाँ व्यञ्जन है। यह 'तवर्ग' का तीसरा वर्ण है। इसका उच्चारणस्थल दन्तमूल है।[१]

उपनिषद् और द

प्रमुख उपनिषदो मे 'द' एकाक्षर केवल बृहदारण्यकोपनिषद् मे चार बार मिलता है।[२] प्रजापति की तीन सन्तान थी—देव मनुष्य और असुर। उन तीनो ने अपने पिता के समीप आकर ज्ञान प्राप्ति हेतु ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किया। निश्चित अवधि तक ब्रह्मचर्य-वास कर चुकने पर 'देवो' ने प्रजापति से कहा, हे पिता !'अब आप हमे उपदेश दीजिये'। प्रजापति ने देव मनुष्य और असुरो तीनो को एकाक्षर 'द' से दम, दान और दया का पृथक्-पृथक् उपदेश दिया।

निर्वचन

द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वम् तदेतत्त्रयँ शिक्षेद्दमं दानं दयामिति।[३]

औपनिषदिक निर्वचन के अनुसार 'द' के तीन अर्थ है।

(१) 'द' — 'दाम्यत' अर्थात दमन करो।

(२) 'द' — 'दत्त' अर्थात् सग्रह न करते हुए दान करो।

(३) 'द' — 'दयध्वम्' अर्थात् प्राणीमात्र पर दया करो।

प्रजापति ने यह उपदेश अपने पुत्रो — देव-मनुष्य और असुरो के माध्यम से सम्पूर्ण मानवजाति को दिया था। मनुष्य मे ही देव और असुर दोनो विद्यमान रहते है। मनुष्य की सत्त्व-रजस् और तमस् इन तीन गुणो से निर्मिति हुई।प्रजापति का आदेश है कि मनुष्य को अपनी आसुरी वृत्तियो व पर विजय प्राप्त कर देवत्व की ओर बढना चाहिये। मनुष्यो मे जो दमनशील है अर्थात् जो अपनी इन्द्रियो का

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ ५१५

२ Concorc ance p 419

३ बृह उप ५ २ ३

दमन करते है और जो उत्तम गुणो से सम्पन्न है वे देव है ।श्रेष्ठगुणो से युक्त होने पर भी मनुष्य को दमनशील होना चाहिये । स्वय स्वयम्भू ने इन्द्रियो को बाह्यमुखी बनाया है ।[१] मनुष्य को कुशल सारथी की भॉति बुद्धिपूर्वक मन रुपी लगाम द्वारा इन्द्रियरूपी अश्वो को सयमित करना चाहिये ।[२] इन्द्रियॉ सदैव सासारिक भोगो, सुख-विलासो की ओर उन्मुख रहती है । लौकिक चकाचौध एव चाकचिक्य इन्द्रियरूपी मृगो को मृगमरीचिका की भॉति सदैव आकर्षित करते रहते है । फलस्वरूप मनुष्य इन्द्रियो का स्वामी होने की अपेक्षा दास हो जाता है । अत प्रजापति का आदेश है कि देव समान द्युतिमान् गुणो से सम्पन्न मनुष्यो को भी इन्द्रियो का दमन करना चाहिये ।

मनुष्य मे लोभ वृत्ति स्वाभाविक रूप से होती है । फलस्वरूप वह सग्रह करता रहता है । प्रजापति का आदेश है कि मनुष्यो को सग्रहवृत्ति त्यागकर दान करना चाहिये । 'लोभोमूलमनार्थम्' । लोभ अनर्थ का मूल है । अत 'मा गृध[३]'— लालच मत' करो के आदेश को व्यवहार मे अपनाकर लोभवृत्ति पर अकुश लगाना चाहिये । सग्रहवृत्ति को त्यागना चाहिये । इसका तात्पर्य यह है कि स्वार्थ मे आकठ डूबे न रहकर 'परार्थ' हेतु कार्य करने चाहिये । अत समाज मे रहते हुए 'दान' करना चाहिये । दान भी श्रद्धापूर्वक करना अपेक्षित है ।[४] हिसा परायण और क्रूर व्यक्ति ही 'असुर' कहलाते है । ऐसे व्यक्तियो को प्राणीमात्र पर 'दया' कर क्रूरवृत्ति को त्यागना चाहिये । 'सगच्छव सवदध्व' की भावना को साकार करने एव सह अस्तित्व की भावना को मूर्तरूप प्रदान करने हेतु आत्मभाव का विस्तार करना चाहिये । 'इदन्नमम' की भावना सहस्तित्व की आधारशिला है । अत प्रजापति ने अपने पुत्रो को जो उपदेश दिया वह प्राणीमात्र के लिये ही है । मानव को अपने अपने जीवन मे गुणवत्ता का आधान करने के लिये 'द' इस एकाक्षर मे निहित आदेश एव उपदेश को व्यवहारिक रूप मे अपनाना चाहिये । अत 'द' इस एकाक्षर का औपनिषदिक निर्वचन नीतिपरक है ।

---

१ पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयभूस्तस्मापराङ्पश्यति नान्तरात्मन् । कठ उप २ १ १

२ वही १ ३ ३-४

३ ईशा उप १

४ श्रद्धया देयम् अश्रद्धया देयम् । तै उप १ ११ ३

दूर

शाब्दिक अर्थ

'दूर' शब्द 'दु खेन ईयते', दूर रण् धातु + रक् से निषन्न होता है । इसका शाब्दिक अर्थ है — दूरवर्ती, फासले पर ।[१]

उपनिषद् और दूर

प्रमुख उपनिषदो मे 'दूर' शब्द केवल पॉच बार उपलब्ध होता है ।[२] बृहदारण्यकोपनिषद् मे अयास्य आङ्गिरस प्राण को 'दूर' कहा गया है । मुख (आस्य) मे रहने के कारण प्राण को 'अयास्य' और सम्पूर्ण अङ्गो का रस होने के कारण 'आङ्गिरस' कहा गया है ।[३] यही आङ्गिरस प्राण 'दूर' नाम से विख्यात है ।

निर्वचन

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं ह्यस्या मृत्युर्दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ।[४]

इस आङ्गिरस प्राण से मृत्यु 'दूर' रहता है । इसीलिये इसकी 'दूर' सज्ञा है । अयास्य आङ्गिरस प्राण अससर्गधर्मी होने के कारण शुद्ध है । प्राण की इस शुद्धता अर्थात् मृत्यु से दूर होने के विषय मे एक आख्यायिका है । प्रजापति के दो पुत्र थे— देव[५] और असुर[६] । देवता यज्ञ मे 'उद्गीथ' के द्वारा असुरो को पराजित

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ५४१

२ Concordance p 436

३ अयमास्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गाना हि रस । बृह उप १ ३ ८

४ वही १ ३ ९

५ द्योतनाद्देवा भवन्ति । बृह उप शा भा १ ३ १

६ स्वेष्वेवासुषु रमणात् सुरेभ्यो वा देवेभ्योऽन्यत्वात् । वही ।

करना चाहते थे ।[१] द्योतनशील होने के कारण प्राण ही 'देव' है । अपने ही असुओ अर्थात् प्राणो मे रमण करने के कारण अथवा देवो से भिन्न होने के कारण वे 'असुर' कहलाते है ।वस्तुत मानवशरीर मे रहने वाली वृत्तियॉ ही दैवीय और आसुरी है । दैवीय वृत्तियो का बढना और आसुरी वृत्तियो का घटना ही मानो देवता और असुरो की स्पर्धा है । सर्वप्रथम देवो ने वाग्देवता को उद्गान का आदेश दिया । वर्णो का शुद्ध उच्चारण ही वाग्देवता का असाधारण कर्म है । असुर सशकित हो गये कि वाणी के कल्याणवदन से देव उनका अतिक्रमण करेगे । फलस्वरूप असुरो ने वाग्देवता (उद्गाता) के पास जाकर उसे पाप से सयुक्त कर दिया । इसका तात्पर्य यह है कि पहले वाणी केवल शुद्ध भाषण ही करती थी परन्तु जब असुरो ने उसे पाप से बिद्ध किया तब से वह न केवल असभ्यता पूर्ण, बीभत्स और अनृतादि भाषण भी करने लगी अपितु शास्त्र प्रतिषिद्ध भाषण भी करने लगी । इसीलिये मनुष्य जीवन मे जहॉ वाणी शुभ बाते बोलती है वही कभी-कभी अशुभ, अश्लील भाषण भी करती है ।[२]

प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ने भी देवताओ के लिये उद्गान किया । परन्तु असुरो ने नासिका (प्राण) को दुर्गन्ध से, चक्षु को अशुभ दर्शन से, श्रोत्र को अशुभ श्रवण से और मन को अशुभ सकल्प से सयुक्त कर दिया । अत सम्पूर्ण इन्द्रिवर्ग को असुरो ने पाप से सश्लिष्ट कर दिया । देव भी इस इन्द्रियवर्ग द्वारा असुरो का अतिक्रमण करने मे असमर्थ रहे ।[३]

देवो ने फिर अपने मुख मे रहने वाले प्राण से कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो ।' तब प्राण ने, 'तथेति' कहकर उनके लिये उद्गान किया । असुर सशकित हो गये कि देवगण इस 'अयास्य प्राण' द्वारा हमारा अतिक्रमण करेगे । उन्होने इस 'अयास्य प्राण' को पाप से सश्लिष्ट करना चाहा । किन्तु जैसे पत्थर से टकराकर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वे 'अयास्य प्राण' से टकराकर नष्ट

---

१ द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । तत कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति । वही १ ३.१

२ बृह उप १ ३ २

३ वही १ ३ ३-६

हो गये । फलस्वरूप देवगण प्रकृतिस्थ हो गये और असुर परास्त हो गये[१] । यही अयास्य आङ्गिरस प्राण की शुद्धता है । यही प्राण 'दूर' सज्ञा वाला है क्योकि इससे मृत्यु 'दूर' रहती है ।

निरुक्त के अनुसार 'दूर' शब्द का निर्वचन इस प्रकार है —

दूर कस्मात् ? दूर कैसे ? द्रुत भवति । दुरय वा ।[२] 'दूर' द्रु धातु गतौ से या 'इण् गतौ' से निष्पन्न होता है ।

अत औपनिषदिक निर्वचन से यह ज्ञात होता है कि केवल अयास्य आङ्गिरस प्राण मृत्यु से 'दूर' है । शुद्ध है । यह पाप से सश्लिष्ट नही है, जबकि प्राणेतर समस्त इन्द्रियवर्ग शुद्ध नही हे । ये सभी पाविद्ध हैं ।मानवजीवन मे भी जो व्यक्ति आसुरी वृत्तियो का दबाकर या नष्ट करके दैवीय वृत्तियो का उत्कर्ष करने मे समर्थ होता है वही मृत्यु से दूर होता है क्योकि इन्द्रियजनित विषयो के ससर्ग से होने वाली आसक्ति ही पाप है याने कि मृत्यु है । इन्द्रियां अशुभ रूपी पाप-मृत्यु से ससक्त है । अयास्य आङ्गिरस प्राण शुद्ध है पाप से विद्ध नही है और इससे मृत्यु दूर रहती है इसीलिये यह 'दूर' सज्ञावाला है ।

---

१ अथ हेममासान्य प्राणमूचुस्त्व न उद्गायेति । तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविव्यत्सन् । स यथाश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वसेतैव हैव विध्वसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन्परासुरा । वही १ ३ ७

२ निरुक्त ३ १९.

नमस्

शाब्दिक अर्थ

नमस् शब्द (अव्य) नम् धातु मे + असुन् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — नमन, नमस्कार, त्याग, अन्न, यज्ञ, स्तोत्र और त्याग ।[१]

उपनिषद् और नमस्

प्रमुख उपनिषदो मे 'नमस्' शब्द बीस बार उपलब्ध होता है ।[२] प्रमुखत यह शब्द देवताओ को— **तस्मै देवाय नमः**[३], समस्त भूतो को— **नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते**[४], ऋषियो को — **नमः परम ऋषिभ्यः**[५], ब्रह्मिष्ठो को — **नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मः**[६], और ब्रह्म को — **नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्**[७], नमन करने के लिये ही प्रयुक्त हुआ है । यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि तैत्तिरीयोपनिषद् मे नमस् (नम) को परमतत्त्व ब्रह्म की सज्ञा माना गया है । **तन्नम इत्युपासीत** । अर्थात् वह ब्रह्म 'नमस्' है । उसकी इसीरूप मे उपासना करनी चाहिए ।

निर्वचन

तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः ।[८]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ५८४

२ Concordance p 478-79

३ श्वे उप १ ७

४ छां उप २ २४ ९, नमोऽग्नये पृथिवीक्षते । वही २ २४ ५

५ मु.उप. ३ २ ११, प्रश्न उप ६ ८, नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य । बृह उप. ४ २ १, ४.

६ वही ३ १ २.

७ कठ उप १ ९, ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणो नमः । बृह.-उप २ ६ ३, ४ ६ ३, ६ ५ ४

८ तै उप ३ १० ४

अर्थात् नमन का नाम नम है। उस ब्रह्म को नमन याने कि गुणवान् जानकर उपासना करनी चाहिये। नमरूप ब्रह्म की उपासना करने से इस उपासक के प्रति समस्त काम अर्थात् जिनकी कामना की जाये वे भोग-विषय नत अर्थात् विनम्र हो जाते है, झुक जाते है। उस परमतत्त्व परब्रह्म को जानने से सारी कामनाये शात हो जाती है । नमस् ब्रह्म का नाम है।

निधन

शाब्दिक अर्थ

निधन (वि) 'निवृत्त धन यस्य' ब्रहुब्रीहि समास है । इसका अर्थ है — गरीब, धनहीन । (पु न) यह नि + धा धातु + क्यु से निष्पन्न होता है । इसके अर्थ है— नाश, मरण, समाप्ति अवसान । कुण्डली मे यह आठवॉ स्थान माना गया है । जन्मनक्षत्र से यह सातवॉ, सोलहवॉ और तेईसवॉ नक्षत्र है । पॉच या सात अवयवो वाले साम का अन्तिम अवयव है, जिसे उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्त्ता मिलकर गाते है । यह गीत का अन्तिम भाग है ।[१]

उपनिषद् और निधन

प्रमुख उपनिषदो मे 'निधन' शब्द केवल छादोग्योपनिषद् मे ही इक्कीस बार[२] प्रयुक्त हुआ है क्योकि यह सामवेदीय उपनिषद् है । केवल एक बार यह बृहदारण्यकोपनिषद् मे भी उपलब्ध होता है । इस उपनिषद् मे मन्थ कर्म का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'वह निधन है' ।' सवर्ग है' । इसका तात्पर्य यह है कि सबका सहार करने वाला होने से ही वह सवर्ग है । **निधनमसि संवर्गोऽसीति ।**[३] छान्दोग्योपनिषद् मे विभिन्न प्रकार की सामोपासनाओ का विवेचन उपलब्ध होता है । सामगायन की पॉच या सात भक्तियॉ होती है । हिकार, प्रस्ताव, उदगीथ, प्रतिहार और निधन ये पॉच भक्तियॉ है । इनमे 'निधन' अन्तिम है जो सामगायन की समाप्ति की भी सूचक है ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ६०२

२ Concordance p 493

३ बृह उप ६ ३ ४

लोकविषयक सामोपासना मे 'द्युलोक' निधन है,[१] क्योकि यहाँ से मरकर जाने वाले लोग द्युलोक मे रहते है ।मृत्यूपरान्त जब मनुष्य अपने कर्मफलो को भोगने हेतु पुन जन्म लेते है तो आवृत्तिकालिक अधोमुख लोको मे 'पृथिवी' निधन है, क्योकि वहाँ से आये हुए प्राणियो को इसी मे रखा जाता है ।[२]वृष्टिविषयक सामोपासना मे, जल ग्रहण करने के कारण 'मेघ' निधन है ।[३] जल सबधी सामोपासना मे, जलो का सचय होने के कारण 'समुद्र' को निधन कहा गया है ।[४] ऋतुओ से सम्बन्धित सामोपासना मे, 'हेमन्त ऋतु' निधन है, क्योकि इसमे वायु के अभाव मे प्राणियो का निधन होता है ।[५] पशुवर्ग पुरुष पर आश्रित होने के कारण, पशुविषयक सामोपासना मे, 'पुरुष' को निधन कहा गया है ।[६] प्राणविषयक सामोपासना मे 'मन' निधन है, क्योकि मनुष्य इन्द्रिवर्ग से जब सासारिक भोग-विषयो को भोगता तो भोग्यरूप से पुरुष की सम्पूर्ण इन्द्रियो द्वारा लाये हुए विषय मन मे ही रखे जाते है तथा सम्पूर्ण इन्द्रियो के विषयो मे व्यापक होने के कारण अन्य इन्द्रियो की अपेक्षा मन उत्कृष्ट भी है । इसका तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ अन्य इन्द्रियो की पहुँच से परे है वे भी मन का विषय तो है ही । अत मन निधन ।[७]

वाणी से सम्बन्धित सामोपासना मे 'नि' ऐसा जो शब्दरूप है वह निधन क्योकि 'नि' और 'निधन' मे 'नि' शब्द की समानता है ।[८] गायत्रसज्ञक साम प्राणो मे प्रतिष्ठित है । प्राण को ही निधन कहा गया[९] है, क्योकि सुषुप्त्यावस्था मे समस्त इन्द्रियवर्ग प्राण मे लीन हो जाता है । रथन्तरसाम मे अग्नि का शान्त होना याने कि बुझ जाना ही निधन है ।[१०] मिथुन द्वारा जो समय बिताता है तथा मैथुनक्रिया की

---

१ द्यौर्निधनम् । छा उप २ २ १
२ पृथिवी निधनम् । वही २ २ २
३ उदगृह्णाति तन्निधनम् । वही २ ३ २ , २ १५ १
४ समुद्रो निधनम् । वही २ ४ १, २ १७ १
५ हेमन्तो निधनम् । वही २ ५ १, २ १६ १
६ पुरुषो निधनम् । वही २ ६ १, २ १८ १
७ मनो निधनम् । वही २ ७ १
८ यन्नीति निधनम् । वही २ ८ २
९ प्राणो निधनम् । वही २ ११ १
१० उपशाम्यति तन्निधनँ सँ शाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् । वही २ १२ १

जो समाप्ति करता है वह वामदेव्यसाम मे निधन है ।[१] अस्तमित होने वाला 'सूर्य' बृहत्साम मे निधन माना गया है ।[२] यज्ञायज्ञीय साम देह के अवयवो मे अनुस्यूत है । अत लोम, त्वचा, मास, अस्थि[३] के अन्त मे स्थित होने के कारण 'मज्जा' को निधन कहा गया है । राजनसाम देवताओ मे अनुस्यूत है, क्योकि देवगण दीप्तिमान् होते है ।[४] इसमे 'चन्द्रमा' निधन है क्योकि उसी मे कर्मकाण्डियो का निधन होता है । सर्वविषयक सामोपासना मे 'सर्प, गन्धर्व और पितृगण' निधन है ।[५] निधन शब्द मे तीन अक्षर है । निधनमिति त्र्यक्षरम् ।[६]

निवर्चन

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्नि दधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।[७]

आदित्यविषयक सात प्रकार की सामोपासना मे, आदित्य का जो रूप सूर्यास्त से पूर्व होता है वह निधन कहा गया है ।

अस्तमित होते हुए सूर्य के उस रूप का अनुसरण करने वाले पितृगण है । इसी से श्राद्धकाल मे उन्हे पिता पितामह और प्रपितामह रूप से दर्भो पर स्थापित करते है । अथवा उनके उद्देश्य से पिण्ड रखते है । इस प्रकार निधन का सम्बन्ध होने से वे पितृगण इस साम की निधनभक्ति के पात्र है । उपर्युक्त विवेचन से विविध सामोपसानाओ के पॉचवे अवयव निधन का विशद् रूप से बोध होता है ।

---

१ तन्निधन पार गच्छति तन्निधनमे तद्वामदेव्य मिथुने प्रोतम् । वही २ १३ १

२ अस्तयन्निधनमेवद्बृहदादित्ये प्रोतम् । वही २ १४ १

३ मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् । वही २ १९ १

४ चन्द्रमा निधनमेतद्राजन देवतासु प्रोतम् । वही २ २० १

५ सर्पा गन्धर्वा पितरस्तन्निधनमेत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् । वही २ २१ १

६ वही २ १० ४

७ वही २ ९ ८

निष्ठा

शाब्दिक अर्थ

निष्ठा शब्द (स्त्री) नि + स्था धातु + अड् + टाप् से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ हैं — स्थिति, ठहराव, भक्ति, श्रद्धा प्रगाढ अनुराग, विश्वास, उत्कृष्टता, निपुणता, निष्पत्ति और समाप्ति।[१]

उपनिषद् और निष्ठा

प्रमुख उपनिषदो मे 'निष्ठा' शब्द चार बार बृहदारण्यक मे और केवल दो बार छान्दोग्योपनिषद् मे उपलब्ध होता है।[२] बृहदारण्यकोपनिषद्[३] मे निष्ठा शब्द प्रतिष्ठा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् मे निष्ठा शब्द का अर्थ है— गुरुशुश्रुषा अर्थात् भक्ति।

निर्वचन

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति।[४]

अर्थात् जब पुरुष की निष्ठा होती है तभी श्रद्धा होती है। बिना निष्ठा के कोई श्रद्धा नही करता अपितु निष्ठा करनेवाला ही श्रद्धा करता है। निष्ठा कब होती है ? जब मनुष्य इन्द्रियो को सयमित कर चित्त को एकाग्र करता है तभी निष्ठा होती है। बिना यह किये किसी की निष्ठा नही होती, करने पर ही मनुष्य निष्ठावान् होता है। अत निष्ठा शब्द नि + स्था धातु (ष्ठा गतिनिवृत्तौ) से सम्पन्न हुआ है।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ६२२

२ Concordance p 505

३ बृह उप ६ ४ ९, ११, १२

४ छा उप ७ २० १

परिमर

शाब्दिक अर्थ

परिमर शब्द (पु) परि + म धातु मे + अप् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ है — विनाश, वायु, शत्रुओ को नाश करने का एक तान्त्रिक प्रयोग।[१]

उपनिषद् और परिमर

प्रमुख उपनिषदो मे 'परिमर' शब्द दो बार[२] तैत्तिरीय और कौषीतकि उपनिषद्[३] मे उपलब्ध होता है।

निर्वचन

तदब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येण म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः।[४]

अर्थात् वह ब्रह्म का परिमर है इस प्रकार उपासना करनी चाहिये। परिमर किसे कहते है ? जिसमे विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि ये पॉच देवता मृत्यु को प्राप्त होते है उसे 'परिमर' कहते है। अत वायु ही 'परिमर' है। छान्दोग्योपनिषद् मे भी वायु को 'सवर्ग' कहा गया है। **वायुर्वाव संवर्गः।**[५] वायु सवर्जन अर्थात् सग्रहण अथवा सग्रसन करने के कारण 'सवर्ग' है। जैसे जुए मे कृतनामक पासे मे अन्य पासो का अन्तर्भाव हो जाता है। वैसे ही वायु मे अन्य तत्त्वो (देवताओं) का सवर्जन होता है। जब अग्नि बुझती, है तो वह वायु मे लीन होती है। जब सूर्य और चन्द्रमा अस्त होते है तो वे भी क्रमश वायु मे लीन हो जाते

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ६७५
२ Concordance P 531
३ कौ उप २ १२ १
४ तै उप ३ १० ४
५ छा उप ४ ३ १

है । गति वायु का कार्य है । सूर्य और चन्द्रमा वायु के द्वारा ही अस्तमित होते है ।[१] जब जल सूखता है तो वायु मे ही लीन होता है । वायु ही इन सबको अपने मे लीन करने के कारण 'सवर्ग' कहलाती है ।[२] वायु आकाश से अभिन्न है इसलिये आकाश ब्रह्म परिमर है । अत उपासक को वायुरूप आकाश की, 'यहब्रह्म का परिमर है' इस भाव से उपासना करनी चाहिये । इससे उपासक के द्वेष करने वाले प्रतिपक्षी (शत्रु) मर जाते है तथा इसके जो अप्रिय भ्रातृव्य (भतीजे) होते है वे, द्वेष करने वाले न होने पर भी, मर जाते है । अत सब तत्त्वो को वायु अपने मे लीन कर लेता है और वायु आकाश से अभिन्न होने के कारण आकाश की ही 'परिमर सज्ञा है । अत परिमर, परि + मृड् धातु प्राणत्यागे से निष्पन्न हुआ है ।

१ यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति । वही

२ यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान् सर्वान्सवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् । वही ४ ३ २

परोरजस्

शाब्दिक अर्थ

परोरजस् शब्द परस् + रजस् से बनता है । यह शब्द वैदिक -वाङ्मय मे ही मिलता है लौकिक मे नही ।

उपनिषद् और परोरजस्

प्रमुख उपनिषदो मे 'परोरजस्' शब्द केवल बृहदारण्यकोपनिषद् मे पॉच बार उपलब्ध होता है ।[१] इस उपनिषद् मे चतुष्पाद गायत्री के चतुर्थ पाद को 'परोरजस्' कहा गया है । **सैषा गायत्र्येतस्मिँ्स्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता ।**[२]

निर्वचन

एतदेव तुरीय दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद् वै चतुर्थ तत् तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवँ् हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ।[३]

अर्थात् गायत्री का जो चतुर्थ पाद है वह 'तुरीय' 'दर्शत' और 'परोरजा' है । 'परोरजा' शब्द का अर्थ है — यह सभी 'रज' याने कि लोको के ऊपर-ऊपर रहकर प्रकाशित होता है । 'उपरि-उपरि' यह द्विरुक्ति गायत्री का समस्त लोको पर आधिपत्य प्रकट करने के लिए ही प्रयुक्त की गई है ।

---

१ Concordance P 534

२ बृह उप.५ १४ ४

३ वही ५ १४ ३

पश्य

शाब्दिक अर्थ

पश्य शब्द दृश् धातु का पश्य आदेश होने से निष्पन्न होता है ।

उपनिषद् और पश्य

प्रमुख उपनिषदो मे 'पश्य' शब्द छादोग्योपनिषद् के एक ही सदर्भ मे दो बार[१] और एक बार मुण्डकोपनिषद्[२] मे उपलब्ध होता है ।

निर्वचन

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्ण कर्त्तारमीश पुरुष ब्रह्मयोनिम् ।[३] पश्य शब्द दशिर धातु प्रोक्षणे से निष्पन्न होता है । **पश्यः पश्यति** से बना है । पश्य का अर्थ है 'द्रष्टा' । जब वह विद्वान् द्रष्टा रुक्मवर्ण, स्वयज्योतिस्वभावस्वरूप, ब्रह्मयोनि, पुरुष को देखता है तो बन्धन के कारणभूत पाप-पुण्य कर्मो को त्यागकर निर्मल हो निरतिशय समता को प्राप्त करता है । अत पश्य $\sqrt{}$*दृश्* - पश्य से व्युत्पन्न है ।

---

१ Concordance P 538

२ न पश्यो मृत्युं पश्यति सर्वं ह पश्य· पश्यति छा उप ७ २६ २

३ मु उप ३ १ ३

पाद

शाब्दिक अर्थ

पाद शब्द (पु) पद् धातु मे + घञ् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — पैर, किरण, वृक्ष की जड पहाड की तलैटी, चतुर्थाश श्लोक, पद्य या मत्र का चौथा भाग, एक पैर या बारह अगुल का माप ।[१]

उपनिषद् और पाद

प्रमुख उपनिषदो मे 'पाद' शब्द लगभग तीस बार उपलब्ध होता है[२] छान्दोग्योपनिषद् मे 'मनब्रह्म', 'वाग्ब्रह्म', 'प्राणब्रह्म', 'चक्षुर्ब्रह्म', 'श्रोत्रब्रह्म' के चार-चार पादो का वर्णन उपलब्ध होता है ।[३]

(१) मनब्रह्म चतुष्पादब्रह्म

वाक्पाद		अग्नि पाद	
प्राणपाद	अध्यात्म	वायु पाद	अधिदैवत
चक्षु पाद		आदित्य पाद	
श्रोत्र पाद		दिश पाद	

सत्यकाम जाबाल को वृषभ ने 'प्रकाशवान्' नामक ब्रह्म के एक पाद का अग्नि ने 'अनन्तवान्' नामक द्वितीय पाद का, हस ने 'ज्योतिष्मान्नामक' तृतीय पाद का और मद्‌गु ने 'आयतनवान्नामक' चतुर्थ पाद का उपदेश दिया था । अत चार

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ६९५

२ Concordance P 540-41

३ छा उप ३ १८ १-६

मानवेतर प्राणियो ने ब्रह्म के चतुष्पादो को क्रमश उपदिष्ट किया। अत पाद शब्द ब्रह्म के चतुष्पादो के रूप मे मिलता है।

ओङ्कार ब्रह्म है। यह आत्मा ही ब्रह्म है और वह यह आत्मा चतुष्पाद् है।[१] इस चतुष्पाद आत्मा का 'वैश्वानर' प्रथम पाद है[२], 'तैजस' द्वितीय पाद[३] है, 'प्राज्ञ' तृतीय पाद[४] है। 'अद्वैत' चतुर्थ पाद[५] है। वह यह आत्मा अक्षर दृष्टि से ओङ्कार है। ओङ्कार पादरूप से विभक्त किये जाने पर मात्रा का आश्रय लेकर विद्यमान रहता है। क्योकि आत्मा के जो 'पाद' हैं वे हो ओङ्कार की मात्राये है। वे मात्राये अकार, उकार और मकार है। **पादा मात्रा मात्राश्च पादा।**[६] आत्मा के पाद और ओङ्कार की मात्राओ मे काई भेद नही है। पाद मात्रा का मात्रा पाद का पर्याय है।

उपनिषदो मे 'पाद' शब्द मुद्रा के अर्थ मे भी मिलता है। विदेहराज सम्राट् जनक ने अपने बहुदक्षिणा यज्ञ मे 'अनूचानतम' (अर्थात सर्वश्रेष्ठ प्रवचन करने वाले) ब्राह्मण को दक्षिणा मे देने के लिये एक हजार गौए् जिनके प्रत्येक सीग मे दश-दश सुवर्ण पाद बॅधे हुए् थे देने का निश्चय किया था। भाष्यकर शकराचार्य के अनुसार 'पल' का चतुर्थ भाग 'पाद' होता है। ऐसे सुवर्ण के दश-दश पाद प्रत्येक गौ के सीगो मे बॅधे हुए् थे। कहने का तात्पर्य यह है कि एक गौ के एक-एक सीग मे पॉच-पॉच पाद बॅधे थे। गौ के सीगो मे सुवर्ण पाद इसीलिये बॉधे गये होगे कि उनका बहुदक्षिणा यज्ञ वस्तुत बहुतदक्षिणा वाला यज्ञ हो जाये। अत सुवर्णखण्ड की ही यहॉ पादसज्ञा है।[७]

---

१ सर्व् ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्। मा उप २

२ वैश्वानर प्रथम पाद। वही ३

३ तैजसो द्वितीय पाद। वही ४

४ प्राज्ञस्तृतीय पाद। वही ५

५ अद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय। वही ७

६ सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्र पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति। वही ८

७ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे ..... स ह गवा् सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्या शृङ्गयोराबद्धा बभूवु। बृह उप ३ १ १

पाद शब्द का अर्थ शरीराङ्ग पैर भी है। समस्तमार्गो का पाद-चरण एक अयन अर्थात् आश्रय है।[१] वैश्वानरसज्ञक आत्मा का पृथिवी ही दोनो चरण हैं।[२] जैसे पृथिवी सबका आश्रय है वैसे ही सम्पूर्ण शरीर का आधार पैर ही है।

निर्वचन

गतिरिति पादयो।[३]

पॉव मे गति रहती है। 'पाद् गतौ' अर्थात् गति के कारण ही इनकी पाद सज्ञा है। 'पादौ च गन्तव्यम्'[४] जैसे घ्राण का घ्रातव्य गन्ध है वैसे ही पाद का गन्तव्य स्थान है। इस प्रकार उपनिषद्वाङ्मय मे पाद शब्द 'गति पादयो' से पॉव की गति, मुद्रा, चरण, मात्रा, पाद के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त के अनुसार भी पाद शब्द √पद्[५] जाने से बना है।

---

१ सर्वेषामध्वाना पादावेकायनमेव—।वही २४११
२ पृथिव्येव पादौ—। छा उप.५१८१-२
३ तै उप ३.१० २
४. प्रश्न उप ४४८
५ पाद पद्यते। तन्निधानात् पदम्।

पार

शाब्दिक अर्थ

पार शब्द (पु) पार धातु मे + णिच् प्रत्यय + अच् अथवा प धातु मे + घञ् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ है — नदी या समुद्र के सामने वाला तट या दूसरा तट। (न) किसी वस्तु के आगे या सामने की ओर। अपरतट या सीमा। किसी वस्तु का अधिक से अधिक परिमाण।[१]

उपनिषद् और पार

प्रमुख उपनिषदो मे 'पार' शब्द केवल सात बार उपलब्ध होता है।[२] देवर्षि नारद महर्षि सनत्कुमार से कहते हैं कि, 'हे भगवन्!' मै केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ। आत्मवेता नही हूँ। मैने सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेता है। मै शोक करता हूँ। मुझे शोक से पार कर दीजिये।'[३] भगवाञ्छोकस्य पार तारयत्विति। इस सन्दर्भ मे 'पार' शब्द 'परे' (अन्त) अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[४] महर्षि सनत्कुमार नारद को उपदिष्ट करते हुए बताते है कि 'जब साधक सबको आत्मरूप से देखता है, जब उसकी समस्त ग्रन्थियाँ टूट जाती है, और जब उसकी सारी वासनाये क्षीण हो जाती है, तब वह अविद्या रूपी तम से पार परमार्थतत्त्व का साक्षात्कार करता है।[५] शकराचार्य ने तमसस्पार शब्द का 'तमसो

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ-पृ ६९८

२ Concordance P 544

३ छा उप ७ १ ३

४ पारमन्तम्। छा उप शा भा वही

५ वही ७ २६ २

अविद्यालक्षणात्पारम्' अर्थ किया है ।[१] इसी उपनिषद् मे पार[२] शब्द (पारगच्छति) समाप्ति के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है ।[३]

कठोपनिषद् मे यम नचिकेता के त्याग की प्रशसा करते हुए कहते है कि 'हे नचिकेता ! तुमने धृतिमान् होकर कामनाओ की समाप्ति, जगत् की प्रतिष्ठा, यज्ञ के अनन्त फल और अभय के पार अर्थात् परा निष्ठा को भी त्याग दिया ।[४] इस सदर्भ मे 'पार' शब्द 'परा निष्ठा'[५] के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।अक्षर ब्रह्म, अभय अर्थात् जो भय शून्य है और जो ससार को पार करने की इच्छा करने वाले है उनका परम आश्रय है ।[६] यहाँ 'पार' शब्द का अर्थ है, 'ससारपारम् ।[७] इसी उपनिषद् मे, 'अध्वन पारम्' अर्थात् मार्ग के पार के अर्थ मे ही 'पार' शब्द प्रयुक्त हुआ है । जो व्यक्ति बुद्धि रूपी सारथी से युक्त होता है और मन का निग्रह करने वाला होता है, वह ससार गति से पार होकर विष्णु के परमपद को प्राप्त कर लेता है ।'अध्वन पारमाप्नोति[८] का अर्थ ससारगति के पार को प्राप्त करना है । ससार का अर्थ है— 'ससरण' । मनुष्य कर्मफलो के अनुरूप विभिन्न ऊँची-नीची योनियो मे ससरण करता है । परन्तु बुद्धिमान् और मनोनिग्रहवान् पवित्र जीव ससार गति के पार[९] को प्राप्त करता है अर्थात् विष्णु के परमपद को प्राप्त करता है । ससार गति के पार का अर्थ है परम पद प्राप्त करना । 'ससारगते पार परमेव आप्नोति ।'[१०]

निर्वचन

अविद्यायाः पर पार तारयसीति ।[११]

---

१ छा उप शा भा वही
२ पार गच्छति । वही २ १ ३ १
३ पार समाप्ति गच्छति । वही शा भा
४ कामस्याप्ति जगत प्रतिष्ठा क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
कठ उप १ २ ११
५ अभयस्य च पार परा निष्ठाम् । वही शा भा.
६ अभय तितीर्षता पार नाचिकेत शकेमहि । कठ उप १ ३ २
७ अभय भयशून्य ससारपार तितीर्षता ___ । वही शा भा
८ सोऽध्वन पारमाप्नोति तद्विष्णो परम पदम् । कठ उप १ ३ ९
९ अध्वन ससारगते पार परमेव अधिगन्तव्यम् । वही शा भा
१० वही
११ प्रश्न उप ६ ८

प्रश्नोपनिषद् मे 'पार' 'पर' से निष्पन्न हुआ है। अविद्याया `पर पार तारयसीति ।[१] पिप्पलाद ऋषि से उपदिष्ट हुए छ ऋषि आचार्य की वन्दना करते हुए कहते है कि 'आप तो हमारे पिता है, जिन्होने हमे अविद्या के दूसरे 'पारपर' पहुँचा दिया है ।' अर्थात् विद्या रूपी नौका से, जन्म, जरा, मरण, रोग और दु ख आदि के कारण जो अपार है उस अविद्यारूपी समुद्र से 'पारपर' अर्थात् मोक्ष प्राप्त करवा दिया । मुण्डकोपनिषद् मे वर्णित है कि अविद्यारूप अन्धकार के पार अर्थात् परतीर पर जाने के लिए हे साधक । तुम्हारा स्वस्ति-कल्याण हो । **स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ।**[२] पार शब्द पर से व्युत्पन्न हुआ है । निरुक्त[३] के अनुसार भी पार शब्द का अर्थ है — दूसरा और यह 'पार परभवति' से निष्पन्न हुआ है ।

---

१ प्रश्न उप ६८

२ मु उप २२६

३ निरुक्त २२४

पुत्र

शाब्दिक अर्थ

पुत्र (पु) शब्द पुत त्रायते, त्रै धातु + क, अथवा पुनाति पित्रादीन्, (पू + कत्र, ह्रस्वता) से निष्पन्न होता है । इसका शाब्दिक अर्थ है — बेटा या पूत । **पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ।**[१]

उपनिषद् और पुत्र

प्रमुख उपनिषदो मे 'पुत्र' शब्द लगभग तीस बार उपलब्ध होता है ।[२] पुत्र पिता का प्रतिरूप होता है । **प्रतिरूपः पुत्रो जायते** ।[३] पिता पुत्र के द्वारा ही इस लोक मे मृत्यूपरात भी प्रतिष्ठित होता है ।[४] बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार मनुष्यलोक को पुत्र के द्वारा ही जीता जा सकता है । किसी अन्य कर्म से नही ।[५]

पुत्र कैसे लोकजय का हेतु है ? ऐसा प्रश्न होने पर श्रुति का कथन है कि, 'जब पिता मरणासन्न होता है तब वह अपने पुत्र को बुलाकर कहता है कि 'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है ।' पुत्र उत्तर देता है कि — 'मै ब्रह्म हूँ, मै यज्ञ हूँ, मै लोक हूँ ।' इन वाक्यो के अर्थ गुह्य है । 'तू ब्रह्म है'— इस वाक्य का अर्थ यह है कि जो कुछ भी मेरे द्वारा अध्ययन किया हुआ है और जो कुछ भी अध्ययन नही किया गया है, उस सभी की 'ब्रह्म' इस पद मे एकता है । पिता पुत्र से कहता है कि, 'जो वेदविषयक स्वाध्याय या कार्य, जीवित रहने तक मेरे द्वारा किया जाना था, वह आज

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ.७१८

२ Concordance P 552

३ बृह उप ४ १ ६

४ पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति । वही १ ५ १७

५ सोऽय मनुष्यलोक पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा । वही १ ५ १६

के बाद 'त्व ब्रह्म' अर्थात् त्वकर्तृक हो । इसका तात्पर्य यह है कि तू अब उन सबको करने वाला हो ।[१]

मेरे द्वारा अनुष्ठेय जो कुछ भी अनुष्ठित और अननुष्ठित यज्ञ थे उन सबको अब तू ही करेगा । इतना ही नही जो लोक मैने जीत लिये है और जो नही जीते हैं वे सब भी अब तेरे द्वारा जीतने योग्य है । इस प्रकार मरणासन्न पिता अध्ययन, यज्ञ और लोकजयसम्बन्धी कर्त्तव्यो का सकल्प पुत्र को सौपकर स्वय उन बन्धनो से मुक्त हो जाता है । पिता के अधीन रहने वाले इस सारे भार को स्वय ग्रहण कर पुत्र इस लोक से गमन करनेवाले पिता का पालन करता है । मन्त्र मे आये हुए 'माम् अभुनजत्' का, 'मेरा पालन करेगा,' यही तात्पर्य है । पिता अपने कर्त्तव्यो का सकल्प पुत्र को सौपकर जब मरता है तब वह अपने वाक्, मन और प्राणो से ही पुत्र मे व्याप्त हो जाता है । प्रश्न उपस्थित होता है कि यह कैसे सम्भव है ? जब अध्यात्म परिच्छेद रूप हेतु अर्थात् अविद्या का नाश हो जाता है तब पिता सबमे व्याप्त होजाता है ।[२] जो सम्पूर्ण प्राणियो को अपने मे और सब प्राणियो मे स्वय को देखता है वह किसी से घृणा नही करता है ।[३] अत मरणोपरान्त पिता सभी का और पुत्र की आत्मा हो जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि पिता पुत्र रूप मे इसी लोक मे विद्यमान रहता है । पिता ही पुत्र रूप मे उत्पन्न होता है । पुत्र ही पिता की दूसरी आत्मा है । पुत्र को ही पिता के पुण्यकर्मों का प्रतिनिधि बना दिया जाता है ।[४] पिता ही मानो अपने प्राणो से पुत्र मे प्रवेश कर जाता है । यदि प्रमादवश या किसी और कारणवश पिता अपने कर्त्तव्यो को पूरा नही कर पाता है तो पुत्र ही उन सबसे पिता को मुक्त करवा देता है । पुत्र ही उन सम्पूर्ण कर्त्तव्यो का स्वय अनुष्ठान कर देता है ।

---

१ अथात सम्प्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्व ब्रह्म त्व यज्ञस्त्व लोक इति स पुत्र प्रत्याहाह ब्रह्माह यज्ञाऽह लोक इति यद्वै किञ्चानूक्त तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता । ये वै के च यज्ञास्तेषा सर्वेषा यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाँ सर्वेषा लोक इत्येकतैतावद्वा इदँ सर्वमेतन्मा सर्वँ सन्नयमितोऽभुनजदिति । वही १.५.१७

२ तस्मात्पुत्रनुशिष्ट लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदैवविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणै सह पुत्रमाविशति । बृह उप १ ५ १७.

३ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते ॥ ईशा उप ६

४ सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्य कर्मभ्य प्रतिधीयतेऽथास्याऽयमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगत प्रैति । ऐत उप २ १ ४

निर्वचन

स यद्यनेनकिंचिदक्ष्णयाऽकृत भवति तस्मादेन ँ सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिॅल्लोके प्रतितिष्ठति ।[१]

अर्थात् पुत्र इसलिये कहलाता है कि वह पिता के 'छिद्' अर्थात् अधूरे कर्त्तव्यो की पूर्ति करके उसका त्राण करता है । अत 'पुत्' का अर्थ है —पूरा करना । 'त्र' का अर्थ है — न किये गये कर्मो से पिता की रक्षा करना । पिता तो मृत्यूपरान्त इस लोक से चला जाता है, परन्तु चले जाने के बाद भी वह पुत्ररूप से इस लोक मे स्थित रहता है ।निरुक्त के अनुसार पुत्र सब जगह बचाने वाला है । (पुरु त्रा धातु), या पिण्डदान करने से (नि + पृ धातु) 'पुत्' नामक नरक से बचाने वाला है । इसलिये पुत्र कहलाता है ।

पुत्रः पुरा त्रायते, निपरणाद्वा । 'पुत्' नरकम्, ततः त्रायते इति वा ।[२]

पुत्र शब्द की औपनिषदिक निरुक्ति से तत्कालीन पितृसत्तात्मक समाज, पुत्र के महत्त्व, पिता-पुत्र सम्बन्ध, पुत्र के कर्त्तव्यो, वशपरम्परा एव वशानुगत गुणो का भी बोध हो जाता है । पुत्र, वशपरम्परा की वह कडी है जो परिवार को समाज से जोडती है और उसे गति प्रदान करती है । अत यह समाजशास्त्रपरक महत्त्वपूर्ण निरुक्ति है ।

---

१ बृह उप १ ५ १७

२ निरुक्त २ ११

पुरुष

शाब्दिक अर्थ

पुरुष शब्द (पु) पुरति अग्रे गच्छति, पुर धातु + कुषण् से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ हैं — पुरुष, नर, मर्द, स्त्री का उल्टा। मानव जाति। ऊँचाई या गहराई की एक प्राचीन नाप जो पुरुष या १२० अगुल के बराबर होती थी। पर्वत। शिव, सूर्य, जीव और परमात्मा।[१]

उपनिषद् और पुरुष

प्रमुख उपनिषदो मे 'पुरुष' शब्द दो सौ से अधिक बार उपलब्ध होता है।[२] मुण्डकोपनिषद् मे अक्षर ब्रह्म ही दिव्य, अमूर्त, पुरुष, बाह्याभ्यन्तर अजन्मा, अप्राण, अमना, शुभ्र और अक्षर से भी उत्कृष्ट वर्णित किया गया है।[३] यह सम्पूर्ण जगत् पुरुष है।[४] जो कुछ भी भूत और भविष्यत् है एव जो अन्न के द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है, वह सब पुरुष ही है। वह पुरुष ही अमृतत्व का भी ईशान है।[५]यह पुरुष महान् है। प्रभु अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और सहार मे निश्चय ही समर्थ है।[६] यह पुरुष अव्यक्त से भी 'पर' है। पुरुष से 'पर' कुछ भी नही। वही 'पराकाष्ठा'

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १२२

२. Concordance P 557-561

३ दिव्यो ह्यमूर्त पुरुष सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परत पर। मुं उप.२१२

४ पुरुष एवेद विश्वम् वही २११०

५ पुरुष एवेदॅ सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति। श्वे उप ३१५

६ महान्प्रभुर्वै पुरुष। वही ३.१२.

है और वही 'परा गति' है ।[१] यह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, सबकी अन्तरात्मा है, सर्वदा जीवो के हृदय मे स्थित है । वह 'मन्वीश' अर्थात् 'ज्ञानाध्यक्ष' है । इस पुरुष को जानकर मनुष्य अमर हो जाते है ।[२] यह पुरुष ही ब्रह्मतत्त्व है ।[३]

निर्वचन - १

तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।[४]

अर्थात् पूर्ण पुरुष ने इस सम्पूर्ण जगत को पूर्ण याने कि निरन्तरता से व्याप्त कर रखा है । पुरुष शब्द पृ धातु पालणपूर्णयो से निष्पन्न होता है । शकराचार्य ने अपने भाष्य मे पुरुष शब्द की दो निरुक्तियॉ दी हैं — (१) 'पुरुष पूर्ण ' । अर्थात् पुरुष पूर्ण है । (२) 'पुरिशयनाद्वा' । अथवा शरीर रूपी पुर मे शयन करने के कारण वह पुरुष कहलाता है । अत प्रथमत वह ब्रह्म 'पूर्ण' होने के कारण पुरुष है । द्वितीयत वह 'पुरिशय' होने के कारण पुरुष है ।

निर्वचन - २

स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते[५]

जैसे सॉप केचुली को छोड देता है वैसे ही ओङ्कारोपासक साधक अशुद्धिमय पाप से मुक्त हो ब्रह्मलोक मे जाता है ।फलस्वरूप वह इस जीवघन अर्थात् शरीरधारी जीव के शरीर से भी उत्कृष्ट तथा पुरिशय अर्थात् सम्पूर्ण पुरो मे (शरीरो में) शयन करने वाले हृदयस्थित परमपुरुष का साक्षात्कार करता है । परन्तु पुरुष 'पुर' मे शयन कैसे करता है ?

बृहदारण्यकोपनिषद् के मधु-विद्या प्रकरण मे वर्णित है कि सृष्टि की रचना करते हुए परमतत्त्व परमात्मा ने दो पैरो वाले 'पुर' (शरीर) बनाये और चार पैरो

---

१ महत परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष पर ।
पुरुषान्न पर किंचित्सा काष्ठा सा परा गति । कठ.उप १ ३ ११

२ अङ्गुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनाना हृदये संनिविष्ट ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । श्वे.उप.३ १३.

३ अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत् ।कठ उप ४.१२.

४ श्वे उप ३ ९, प्रश्न उप ५ ५

५ श्वे उप शा भा ३ ९

वाले 'पुर' (शरीर) बनाये। वह पुरुष पक्षी अर्थात् लिङ्गदेह के रूप मे शरीररूपी 'पुरो'(घोसलो) मे प्रविष्ट हुआ। पुरो (शरीरो) मे शयन करने के कारण वह 'पुरिशय' कहलाता है।

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचानावृत्तं नैनेन किंचनासंवृतम्।[१]

सम्पूर्ण पुरो मे शयन करने के कारण 'पुरिशय' पुरुष कहा जाता है। इससे कुछ भी अनावृत-अनाच्छादित नही है। इसका तात्पर्य यह है कि जगत् मे ऐसा कुछ भी नही है जो 'पुरिशय पुरुष' से ढका हुआ न हो। इससे कुछ भी 'असवृत' नही है। अर्थात् ऐसा कुछ भी न ही है जहाँ पुरुष भीतर और बाहर रहकर स्वय प्रविष्ट न हो अर्थात् व्याप्त न हो। ऋषि पिप्पलाद[२] के अनुसार भी शरीर के भीतर हृदयपुण्डरीकाकाश मे ही पुरुष का निवास है। उस चैतन्य पुरुष से ही प्राण से लेकर नाम पर्यन्त सोलह कलाये उत्पन्न होती है। यह जो हृदय के मध्य मे स्थित आकाश है उसमे ही यह मनोमय अमृतस्वरूप पुरुष रहता है।[३]

निरुक्त के अनुसार पुरुष शब्द पुर अर्थात् शरीर या बुद्धि मे बैठने वाला, पुर मे शयन करने वाला, या पूरय् अर्थात् पूरा करने से बना है।

पुरुषः पुरिषाद् पुरिशयः, पूरयते वा।[४]

श्वेताश्वतर ऋषि के अभिमत मे जो जीव के भीतर को भर देता है, जिससे उत्कृष्ट अन्य कोई नही है, जिससे छोटा और बडा भी कोई नही है वह अद्वितीय परमात्मा अपनी द्योतनात्मक महिमा मे वृक्ष के समान स्तब्ध अर्थात् निश्चलभाव से स्थित है। उस अद्वितीय परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुष ने इस सम्पूर्ण विश्व को भरा हुआ है। अर्थात् इस सबको पूर्ण —निरन्तरता से व्याप्त किया हुआ है।

---

१ बृह उप २ ५ १८

२ तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेता षोडश कला प्रभवन्तीति। प्रश्न उप ६ २

३ स य एषोऽन्तर्हृदय आकाश। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमय। अमृतो हिरण्मय। तै.उप १ ६ १

४ निरुक्त २.३

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽसि कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्ण पुरुषेण सर्वम्।[१]

अत पुरुष पूर्ण होने के कारण, पुरिशय होने के कारण, पूर्ण अर्थात् व्याप्त करने के कारण ही पुरुष सज्ञा से अभिहित होता है। पुरुष आत्मा का, ब्रह्म का पर्याय है।

---

१ श्वे उप ३.९

पूषन्

शाब्दिक अर्थ

पूषन् शब्द (पु) पू धातु + कनिन् प्रत्यय से निष्पन्न होता है । इसका शाब्दिक अर्थ है — सूर्य ।[1]

उपनिषद् और पूषन्

'पूषन्' शब्द प्रमुख उपनिषदो मे केवल छ बार उपलब्ध होता है ।[2] बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार पूषन् जगत् का पोषण करने वाला 'सूर्य देव' है । यही जगत्पोषक सूर्य 'एकर्षि' है । क्यो ? क्योकि ऋषि तत्त्वद्रष्टा होते है । दर्शन करने के कारण 'पूषन्' ऋषि है वही जगत् का आत्मा और नेत्र होकर सबको देखता है । अथवा वह अकेला चलता है । (सूर्य एकाकी चरति) । सम्पूर्ण जगत् का संयमन करने के कारण वह 'यम' है । जगत् के रस, रश्मि, प्राण और बुद्धि को सम्यक् रूप से प्रेरित करने के कारण उसकी 'सूर्य' सज्ञा है । प्रजापति का पुत्र होने के कारण पूषन् 'प्राजापत्य' है ।[3]

आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है ।यही ज्योतिर्मय पात्र उसके दर्शन मे प्रतिबन्ध याने कि रुकावट का कारण है ।[4]साधक जगत् का पोषण करने वाले सूर्य अर्थात् पूषा से प्रार्थना करता है कि वह दर्शन मे रुकावट उत्पन्न करने वाले इस व्यवधान को दूर कर दे, जिससे वह सत्यरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर सके । जैसे मनुष्य बिजली की चमक-दमक के कारण उसके

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ७३२

२ Concordance P. 568

३ पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह । ईशा.उप.१६; बृह.उप.५.१५.१

४ हिरणयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नापवृणु सत्यधर्माय दृष्टये । ईशा उप.१५.

स्वरूप को नही देख सकता वैसे ही 'पूषन्' के तेज से दृष्टि नष्ट हो जाने के कारण जीव उसके यथार्थ स्वरूप को साक्षात् नही देख पाता । इसीलिये साधक निवेदन करता है कि वह अपने तेज का उपसहार कर ले अर्थात् समेट ले ।[१] 'पूषन्' का जो कल्याणो मे अतिशय याने कि कल्याणतम रूप है उसे हम देखते है । क्योकि 'वह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है, वही अमृतस्वरूप मै हूँ ।'[२]

निर्वचन

पूषणमियं वै पूषेयँ्हीदँ् सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ।[३]

बृहदारण्यकोपनिषद् मे शूद्र और पृथिवी को 'पूषा' कहा गया। क्यो ? क्योकि जो पोषण करता है वही 'पूषण' कहलाता है । सृष्टि के आरम्भ मे ब्रह्म अकेला था । फलस्वरूप वह विभूतियुक्त कर्म करने मे समर्थ नही हुआ । इसलिये उसने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की क्रमश रचना की । शूद्र कौन है ? देवताओ मे पूषा ही पोषण करने के कारण शूद्र है । यह पृथिवी ही पूषा है; क्योकि यह भी पोषण करती है । जगत्पोषिका होने के कारण पृथिवी ही पूषा है । शूद्र भी इस युग मे पोषण करने वाली पृथिवी पर कृषि कर्म करने मे सलग्न थे । इसलिये उन्हे भी पूषण (पूषा) कहा गया ।

उपर्युक्त औपनिषदिक निरुक्ति से ज्ञात होता है कि वैदिक देवता पूषन् समस्त जगत का पोषण करने के कारण तत्युगीन धार्मिक जगत मे सूर्य और पृथिवी का पर्याय बन गया ।सूर्य पृथिवी को अपनी रश्मियो से गर्भवती बनाकर उसे वनस्पतिमयी, औषधीमयी, अन्नमयी और रसवती बनाता है । पृथिवी अन्न से सम्पूर्ण प्राणिवर्ग का पोषण करती है । सूर्य समस्त स्थावर-जङ्गम की आत्मा है । पोषण करने के कारण 'शूद्र' और 'पृथिवी' पूषण है ।

---

१ रश्मीन्समूह तेजो यत्ते रूप कल्याणतम तत्ते पश्यामि । वही १६

२ योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि । वही

३. बृह .उप.१.४.१३.

प्रजा

शाब्दिक अर्थ

प्रजा शब्द (स्त्री) प्र + जन् धातु मे ड + टाप् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ है — सन्तान, उत्पत्ति, जन्म, प्राणी, किसी राज्य या राष्ट्र के लोग।[१]

उपनिषद् और प्रजा

प्रमुख उपनिषदो मे 'प्रजा' शब्द लगभग पैसठ बार मिलता है।[२] तत्त्वचिन्तन के आद्य महर्षि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश देते है कि, 'सृष्टि के प्रारम्भ मे एकमात्र अद्वितीय 'सत्' ही था **सदेव सोम्येदमग्र असीदेकमेवाद्वितीयम्।**[३] यह सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलक है, सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है।[४] प्रारम्भ मे एक आत्मा ही था। उसने कामना की कि, 'मेरे स्त्री हो फिर मै प्रजारूप मे अर्थात् सन्तान रूप मे उत्पन्न होऊँ।' जब तक उसकी यह कामना पूर्ण नही होती तब तक वह अपने आपको अपूर्ण मानता है। उसकी पूर्णता कैसे होती है ? उसकी पूर्णता इस प्रकार होती है — मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, प्राण सतान है, नेत्र मानुषवित्त है और श्रोत्र देववित्त है । आत्मा (शरीर) ही इसका कर्म है।[५] इन्ही से पुरुष पूर्ण होता है। अन्यतर कहा गया है कि 'मन ही पिता है वाक् माता है और प्राण प्रजा है'।[६]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ.७४८

२ Concordance P 568

३ छां उप ६ २.१

४ सन्मूला सोम्येमा सर्वा प्रजा सदायतना सत्यप्रतिष्ठा । वही ६८४ ६ १० ३.

५ आत्मेवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ — मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राण प्रजा। बृह उप १४१७.

६ वही १५७

तैत्तिरीयोपनिषद् मे पॉच महासहिताओ का वर्णन करते हुए 'अधिप्रज' अर्थात् प्रजासम्बन्धी दर्शन बताया गया है। इस सहिता मे माता पूर्वरूप है, पिता उत्तररूप है, प्रजा सधि है और प्रजनन सधान है।[१] (जिससे सधि की जाये वह सधान है) माता पिता के मेल से ही सन्तान-प्रजा उत्पन्न होती है। अन्न से ही प्रजा उत्पन्न होती है। कैसे ? क्योकि अन्न से वीर्य उत्पन्न होता है ?, 'अन्नाद्वीर्यम्'।[२] अन्न और वनस्पतियो से निष्पन्न हुए वीर्य को पुरुष स्त्री मे अर्थात् योषद्रूप अग्नि मे सीचता है और इसी से बहुत सी प्रजा उत्पन्न होती हैं।[३] इसीलिये कहा गया है कि जो कुछ प्रजा पृथिवी को आश्रित करके रहती है, वह सब अन्न से उत्पन्न होती है, अन्न से ही जीवित रहती है और फिर उसी मे लीन हो जाती है।[४] दीक्षान्त उपदेश मे भी गुरु शिष्य को उपदेश देते है कि, 'हे ब्रह्मचारी ! ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त कर गृहस्थ मे प्रवेश करना जिससे तुम वश परम्परा का वर्द्धन कर सको। **प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी** प्रजासन्तति का विच्छेद नही करना चाहिये।' प्रजा रूपी तन्तु से वश-बेल को बढाना चाहिये।[५] प्रजा, प्रजन और प्रजाति तीनो का उपदेश इसी उपनिषद् मे उपलब्ध होता है। **प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचनेच। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च।**[६] प्रजा - सतान उत्पन्न करनी चाहिये। प्रजन- प्रजनन अर्थात् ऋतुस्नाता स्त्री से भार्यागमन करना चाहिये। प्रजाति- पौत्रोत्पत्ति अर्थात् पुत्र को स्त्रीपरिग्रह करवाना चाहिये। इहलोक मे मनुष्य सर्वप्रथम प्रजा से, पशु से, ब्रह्मतेज से और कीर्ति से महान् होता है।[७] सृष्टि अर्थात् प्रजा की रचना करने के कारण ही ब्रह्म का नाम प्रजापति हुआ।

---

१. अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा संधि। प्रजननꣳ सधानम्। इत्यधिप्रजम्। तै उप १ ३ ३

२. प्रश्न उप ६ ४

३. पुमान्रेत सिञ्चति योषितायां बह्वी प्रजा पुरुषात्संप्रसूता। मुं उप. २.१ ५

४. या काश्च पृथिवीꣳ श्रिता अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्तत। तै उप २ २.१

५. तै उप १.११ ४

६. वही १ ९.१

७. महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या। वही ३ ७ १

ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवान् (असृजत) [१]

उपनिषद् वाड्मय मे प्रजा शब्द सतति के अर्थ मे,[२] राजा की प्रजा के अर्थ मे,[३] और ब्रह्म की प्रजा[४] के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।

निर्वचन - १

भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ।[५]

प्रजा शब्द प्र + जनि धातु (प्रादुर्भावे) से बना है । प्रश्नोपनिषद् मे प्रश्न होता है कि, 'सारी प्रजा किससे उत्पन्न होती है ?'

चराचर जगत के स्वामी प्रजापति को जब 'प्रजाकाम' अर्थात् प्रजा की रचना करने की कामना हुई तो उसने तप किया फलस्वरूप रयि और प्राण का एक मिथुन-जोडा उत्पन्न किया । उसने कहा कि रयि और प्राण दोनो ही विभिन्न प्रकार की प्रजा उत्पन्न करेगे ।

निर्वचन - २

अन्नाद्वै प्रजा प्रजायन्ते ।[६]

अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है । यही व्युत्पत्ति बृहदारण्यकोपनिषद् मे भी उपलब्ध होती है ।

यो ह वै प्रजापतिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजातिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ।[७]

अत· जनि धातु से ही प्रजा शब्द व्युत्पन्न हुआ है ।

---

१ बृह उप ५ ५.१

२ छां.उप १ ९.३; २ ११ २, .२ १६ २, ३ ११४; ५ १५ १, ५ १७ १, ५.१९.१,बृह. उप १४१६ ,१४१७

३ छा.उप १ ३ १,४ १ ४,५ १२,८ १ ५,८ ३ २,बृह उप २ १४,५,७,९,१३,

४ प्रश्न उप १ ३.

५ वही १ ४

६ तै.उप २ २.१.

७ बृह उप ६ १ ६ छा उप ५ १ २

प्रतिगर

शाब्दिक अर्थ

प्रतिगर शब्द प्रति + गृ धातु + अच् से निष्पन्न होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है — शब्द करना उच्चारण करना। गान करना।[1]

उपनिषद् और प्रतिगर

प्रमुख उपनिषदो मे 'प्रतिगर' शब्द मात्र एक बार[2] तैत्तिरीयोपनिषद् की शीक्षावल्ली के आठवे अनुवाक मे उपलब्ध होता है।[3] इस अनुवाक मे ओङ्कारोपासना के विधान का वर्णन किया गया है। 'ओ३म्' यह शब्दब्रह्म है, क्योकि 'ओ३म्' सर्वरूप है। 'ओ३म्' ही अनुकृति है अर्थात् सम्मतिसूचक सकेत है। याज्ञिक 'ओ३म् श्रावय' ऐसा कहकर श्रवण कराते है। 'ओ३म्' ऐसा कहकर सामगान करते है। 'ओ३म् शोम्' ऐसा कहकर शस्त्रो अर्थात् गीति रहित ऋचाओ का पाठ करते है। अध्वर्यु प्रतिगर के प्रति 'ओ३म्' ऐसा उच्चारण करते है। 'ओ३म्' ऐसा कहकर, वह अग्निहोत्र के लिये आज्ञा देता है। वेदाध्ययन करने वाला ब्राह्मण भी 'ओ३म्' ऐसा उच्चारण करता हुआ कहता है कि 'मै ब्रह्म को प्राप्त करुँ।' इससे वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसका तात्पर्य यही है कि जीवन मे प्रत्येक कार्य ओङ्कारके उच्चारण से प्रारभ करना चाहिये।

निर्वचन

ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति।[4]

अतः प्रतिगर शब्द प्रति + गृ से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है — उच्चारण करना।

---

१. शब्दार्थ कौस्तुभ पृ. ३९४

२ Concordance P 363

३ तै उप. १८१

४. वही.

प्रतिष्ठा

शाब्दिक अर्थ

प्रतिष्ठा शब्द (स्त्री) प्रति + स्था धातु मे + अड् + टाप् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ है — स्थापन, अवस्थान, घर, स्थिरता। स्थायित्व, उच्च पद, कीर्ति, प्राणप्रतिष्ठा, पृथिवी और अभिषेक।[१]

उपनिषद् और प्रतिष्ठा

प्रमुख उपनिषदो मे 'प्रतिष्ठा' शब्द लगभग पचपन बार[२] अनेक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेयोपनिषद् के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ मे नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभय और अद्वयरूप आत्मा ही था। आत्मा शब्द व्याप्ति बोधक 'आप्' आत्मतत्व भक्षणार्थक 'अद्' अथवा सतत् गमन-बोधक 'अत्' धातु से निष्पन्न हुआ है। उसने 'अम्भ' 'मरीचि', मर और 'आप्' — इन लोको की रचना की। 'अम्भ लोक', द्युलोक से परे है। वह जल (मेघो) को धारण करनेवाला होने से 'अम्भ' शब्द से जाना जाता है। अम्भ लोक की प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय द्युलोक से नीचे जो अतरिक्ष है, वह है।[३] यहाँ प्रतिष्ठा शब्द आश्रय के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[४]

पञ्चभूत, अण्डज-पक्षी, जारुज-मनुष्यादि, स्वेदज-जूँ आदि उद्भिज्ज-वृक्षादि, तथा अश्व, गौ, पुरुष, हाथी और अन्य सभी प्रकार के प्राणी, जङ्गम-जो पैरो से चलते है, पक्षी-जो आकाश मे उडने वाले हैं और स्थावर-जो अचल है, वे सभी प्रज्ञानेत्र है। प्रज्ञा का अर्थ है — प्रज्ञप्ति। प्रज्ञा ब्रह्म ही है, तथा जिससे ले

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ७६१

२ Concordance. P 590-91

३ परेण दिव द्यौ प्रतिष्ठान्तरिक्ष मरीचय ....। ऐत उप १ १ २

४ प्रतिष्ठाश्रय । शा भा वही

जाया जाये उसे 'नेत्र' कहते है । उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के समय सभी प्रज्ञान ब्रह्म मे स्थित रहने वाले है अर्थात् प्रज्ञा मे अश्रित है । प्रज्ञान मे ही सम्पूर्ण सृष्टि प्रतिष्ठित अर्थात् स्थित है । प्रज्ञा ही प्रतिष्ठा है । अर्थात् प्रज्ञा ही सम्पूर्ण जगत् का आश्रय है ।[१] ब्राह्मी उपनिषद् के तप —ब्रह्मचर्यादि, दम — इन्द्रियनिग्रहादि तथा अग्निहोत्रादि कर्म, चारो वेद तथा सम्पूर्ण वेदाङ्ग प्रतिष्ठा है ।[२] प्रतिष्ठा चरणो को कहते है ।अत चरणो के समान उपर्युक्त ये सभी ब्राह्मीउपनिषद् के आधारभूत है । यहाँ प्रतिष्ठा शब्द आधार अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।[३] जैसे मनुष्य अपने पैरो पर स्थित होकर ही कार्य करता है उसी प्रकार इन सभी साधनो के रहते हुए ही ब्रह्मविद्या प्रवृत्त होती है । ऋक् आदि चार वेद और शिक्षा आदि छ अङ्ग ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा है । कर्म और ज्ञान के प्रकाशक होने के कारण वेदो को और उनकी रक्षा के कारणभूत होने से वेदाङ्गो को ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा कहा गया है । ब्रह्मविद्या सब विद्याओ की प्रतिष्ठा है याने कि[४] आधार है ।

पृथिवी प्रतिष्ठा सज्ञक वैश्वानर आत्मा है । पृथिवी वैश्वानर आत्मा की प्रतिष्ठा अर्थात् पाद (चरण) है ।[५] साम की प्रतिष्ठा वाक् है । यहप्राण वाणी मे प्रतिष्ठित है । क्यो ? क्योकि जिह्वामूलीयादि स्थानो मे प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गीतिभाव को प्राप्त होता है ।

तस्य.हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठिां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतितिष्ठतो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ।[६]

वाक् की प्रतिष्ठा आकाश है । क्यो ? क्योकि उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय के समय अव्याकृत सज्ञक आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा होता है ।[७] हृदय ही समस्त भूतो की प्रतिष्ठा है और हृदय मे ही सब भूत प्रतिष्ठित होते है ।

---

१ प्रज्ञाने प्रतिष्ठित प्रज्ञानेत्रो लोक प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञान ब्रह्म ।ऐत उप ३ ३

२ तस्यै तपो दम- कर्मेति प्रतिष्ठा वेदा सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् । केन उप ४८

३ प्रतिष्ठा पादौ पादाविवास्या ,तेषु हि सत्सु तितिष्ठति ब्रह्मविद्या प्रवर्तते पद्भ्यामिव पुरुषः । वेदाश्चत्वार सर्वाणि चाङ्गानि शिक्षादीनि षट् कर्मज्ञानप्रकाशकत्वाद्वेदाना तद्रक्षणार्थत्वाद् अङ्गाना प्रतिष्ठात्वम् । शा भा वही.

४ स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह । मुं उप १ १

५ प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो ...... छा उप ५ १७ १

६ बृह उप १ ३ २७

७ वागेवायतनमाकाश प्रतिष्ठा । वही ४ १ २

हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति ।[१]

आदित्यमण्डल मे निवास करने वाले पुरुष के व्याहृति रूप अवयवो का निरुपण करते हुए 'भू ' व्याहृति को पुरुष का सिर बताया गया है ।क्योकि शिर एक है और यह 'भू ' अक्षर भी एक है । 'भुव ' व्याहृति पुरुष की दो भुजाये है क्योकि 'भुव ' मे अक्षर भी दो है । 'स्व ' व्याहृति प्रतिष्ठा (चरण) है, क्योकि प्रतिष्ठा (चरण) दो है और ये अक्षर भी दो है । इस सन्दर्भ मे प्रतिष्ठा का अर्थ स्पष्ट रूप से पैर-चरण है ।[२] शुद्ध अन्त करण वाले, ब्रह्मज्ञानी, सयमी मृत्यूपरान्त ब्रह्मलोक मे जाते है और अमर हो जाते हैं ।उनकी पन्द्रह कलाये (पॉच कर्मेन्द्रियॉ, पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ और पॉच प्राण) अपनी प्रतिष्ठा याने कि अपने कारण भूत आधार मे लीन हो जाते है । यहॉ प्रतिष्ठा शब्द का अर्थ आधार ही है ।

मनुष्य जब अदृश्य, अशरीर, अनिर्वाच्य और अनिलयन अर्थात् सब कार्यधर्मो से विलक्षण ब्रह्म मे 'अभय प्रतिष्ठा' अर्थात् आत्मभाव को प्राप्त करता है, तब वह अभय हो जाता है । क्योकि जब मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूप, ब्रह्मस्वरूप मे स्थित होता है तब वह न तो कुछ देखता है, न सुनता है और न और कुछ जानता ही है[३] । अन्य को ही अन्य से भय होता है ।आत्मा से आत्मा को भय नही होता । आत्मा ही आत्मा के अभय का कारण है । अभय ही ब्रह्म है ।[४]

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभय प्रतिष्ठां-विन्दते ।[५] अत इस सदर्भ मे 'अभय प्रतिष्ठा' शब्द का अर्थ है, अभय स्थिति को प्राप्त करना । ब्रह्म ही सम्पूर्ण सृष्टि की प्रतिष्ठा-आधार है ।[६]

---

१ वही ४ १ ७

२ द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे ....। वही ५ ५ ३

३ गताः कला पञ्चदश प्रतिष्ठा ....। वही. ३ २ ७

४ स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभय वै ब्रह्माभयॅ हि वै ब्रह्म भवति य एव वेद । बृह उप ४.४ २ ५

५ तै उप २ ७ १

६ तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत् । तै उप. ३ १० ३

निर्वचन

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा[1] ।

अर्थात् जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह इस लोक मे और परलोक मे प्रतिष्ठित होता है । चक्षु ही प्रतिष्ठा है, क्योकि चक्षु से देखकर ही पुरुष 'सम' और 'विषम' प्रदेश मे स्थित होता है ।

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे एवं वेद ।[2]

अर्थात् जो प्रतिष्ठा को जानता है, जिससे वह प्रतिष्ठित होता है, उसे प्रतिष्ठा कहते है[3] । उस प्रतिष्ठा को अर्थात् प्रतिष्ठागुणवती चक्षु को जो जानता है वह समान देश काल मे प्रतिष्ठित होता है तथा दुर्ग 'विषम' यानी दुर्गम्य देश मे और दुर्भिक्षादि विषम काल मे भी प्रतिष्ठित होता है ।उपर्युक्त विवेचन और निर्वचन से प्रतिष्ठा शब्द के विभिन्न अर्थो - 'आश्रय', 'स्थिति' और 'अभय- स्थिति' का बोध होता है ।

---

१ छा उप ५ १ ३

२ बृह उप ६ १ ३

३ प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा । शा भा वही.

प्रतिहार

शाब्दिक अर्थ

प्रतिहार शब्द (पु) प्रति + हृ धातु + घञ् से निष्पन्न हुआ है। इसके शाब्दिक अर्थ है — द्वार, द्वारपाल ऐन्द्रजालिक जादूगर, इन्द्रजाल, उद्गाता द्वारा गाये जाने वाले साम का एक अवयव।[१]

उपनिषद् और प्रतिहार

प्रमुख उपनिषदो मे 'प्रतिहार' शब्द केवल छान्दोग्योपनिषद् मे बाईस बार उपलब्ध होता है।[२] यह सामवेदीय उपनिषद् है। इसी उपनिषद् मे सामगान की पद्धति का प्रयोग हुआ है। सामगान की पॉच या सात भक्तियॉ है।

प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनानि भक्तयः। हिङ्कार और ओङ्कार को भी सम्मिलित करने पर ये विभक्तियॉ सात हो जाती हैं। **हिङ्कार प्रस्तावात् पूर्वः। उद्गीथावोङ्कार इति।**

छान्दोग्योपनिषद् मे अनेक रूपको के माध्यम से इन सभी विभक्तियो और विशेष रूप से ओङ्कार की बहुविध प्रशसा प्राप्त होती है। पॉच विभक्तियॉ इस प्रकार है।

(१) प्रस्ताव = हुं आग्नाइ।
(२) उद्गीथ = ओम् आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
(३) प्रतिहार = नि होता सत्सि बर्हिष ओम्।
(४) उपद्रव = निहोता सत्सि व
(५) निधन = हिषि ओम्।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ.पृ ७६३
२ Concordance P. 37

छान्दोग्योपनिषद् मे लोकविषयक, वृष्टिविषयक, जलविषयक, ऋतुविषयक, पशुविषयक, प्राणविषयक, ये पॉच प्रकार की सामोपासनाये मिलती है। लोक मे आदित्य प्रतिहार है, क्योकि वह प्रत्येक प्राणी के अभिमुख है।[१] वृष्टि मे जो बिजली चमकती है, कडकती है वही इधर उधर फैलने के कारण प्रतिहार है।[२] जलो मे जो नदी या जल प्रतीची-पश्चिम की ओर बहते है वे 'प्रति' शब्द मे समान होने के कारण प्रतिहार है।[३] ऋतुओ मे रोगी और मृत प्राणियो का प्रतिहरण करने के कारण शरदृतु प्रतिहार है।[४] एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के कारण पशुओ मे, अश्व प्रतिहार है[५], क्योकि अश्व पुरुषो का प्रतिहरण (वहन) करते हैं। प्राणो मे श्रोत्र प्रतिहार है क्योकि वह प्रतिहृत है तथा सब ओर से श्रवण करने के कारण वह नेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट भी है।[६] सप्तविध सामोपासना मे जो कुछ 'उत्' है वह उद्गीथ है, जो कुछ 'प्रति' ऐसा शब्द स्वरूप वह प्रतिहार है, क्योकि उनमे प्रति शब्द का सादृश्य है।[७] आदित्य का जो रूप मध्याह्न के पश्चात् और अपराह्न से पूर्व होता है वह प्रतिहार है।[८] रथन्तरसाम मे अग्नि का अभिमन्थन करना हिकार है। अग्नि से जो धुँआ उठता है वह पश्चाद्वर्ती होने के कारण प्रस्ताव है। अग्नि जलता है — यह उद्गीथ है।अङ्गार होते है — यह प्रतिहार है, क्योकि अङ्गारो का प्रतिहरण किया जाता है। अग्नि के बुझने मे कमी रह जाने के कारण उपशम और उसका सर्वथा शान्त हो जाना सशमरूप निधन है।[९] वामदेव्यसाम मे मनुष्य अपनी अनेक पत्नियो मे से प्रत्येक के साथ जो शयन करता है, वह प्रतिहार है।[१०] शक्वरी साम मे दिशाये

---

१ आदित्य प्रतिहार। छा उप २ २ १
२ विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार। वही २ ३.१, २ १५ १
३ या प्रतीच्य स प्रतिहार। वही २ ४ १
४ शरत्प्रतिहारो। वही २ ५ १ वही २ १६ १
५ अश्वा: प्रतिहार। वही २ ६ १, २ १८.१
६ श्रोत्र प्रतिहार। छा.उप २ ७ १, २ ११ १
७ वही २ ८ ६.
८ वही २.९ ६; २ १४ १
९ अङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार। वही २ १२ १
१० प्रति स्त्री सह शेते स प्रतिहार। वही २.१३.१

प्रतिहार है ।[१] यज्ञायज्ञीय साम मे प्रतिहृत होने के कारण 'अस्थि' प्रतिहार है ।[२] राजनसाम मे प्रतिहृत होने के कारण नक्षत्र प्रतिहार है ।[३] सर्वविषयक साम मे त्रयी विद्या हिकार है । ये तीन लोक प्रस्ताव है । अग्नि, वायु और आदित्य ये उद्गीथ है ।नक्षत्र, पक्षी और किरणे — ये प्रतिहार है । सर्प, गन्धर्व और पितृगण — ये निधन है । विविध सामोपासनाओ के प्रतिहारो मे भिन्नता है ।

निर्वचन

अथ यदूर्ध्व मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।[४]

छान्दोग्योपनिषद् मे आदित्यविषयिणी सात प्रकार की सामोपासना वर्णित है । आदित्य का जो रूप मध्याह्न के पश्चात् और अपराह्न से पूर्व होता है वह प्रतिहार है । उसके उस रूप के अनुगामी गर्भ है । इसी से वे (गर्भ) प्रतिहृत अर्थात् ऊपर की ओर आकृष्ट किये जाने पर नीचे नही गिरते । प्रतिहार शब्द प्रतिहृ धातु हरणे से निष्पन्न होता है । इस सन्दर्भ मे प्रतिहार और आदित्य की अभिन्नता है । शरीर मे गर्भ की स्थिति 'प्रतिहार' के कारण ही होती है । प्रतिहार से आकृष्ट होने के कारण, पतन के अर्थात् नीचे गिरने के द्वार पर होने पर भी अवपन्न अर्थात् नीचे नही गिरते क्योकि गर्भ इस साम की प्रतिहारभक्ति के पात्र है । अत गर्भ की स्थिति के कारण ही प्रतिहार का प्रतिहारत्व है ।[५]

---

१ दिश प्रतिहार । वही २ १७ १

२ अस्थि प्रतिहार । वही २ १९ १

३ नक्षत्राणि प्रतिहार । वही २ २० १

४ नक्षत्राणि वयाँसि मरीचय स प्रतिहार । वही २ २१ १

५ वही २ ९ ६

प्राण

शाब्दिक अर्थ

प्राण शब्द 'प्राणिति जीवति बहुकालम्, प्र + अन् + अच् वा प्राणिति अनेन, प्र + अन् धातु + घञ् से निष्पन्न होता है । लोक मे प्राण शब्द का अर्थ सामान्यतया 'श्वास' या 'सास' माना जाता है । शरीर की वह वायु जिससे कोई जीवित कहलाता है, उसे ही 'प्राण' कहा जाता है ।[१]

उपनिषद् और प्राण

प्रमुख उपनिषदो मे 'प्राण' शब्द दो सौ[२] से भी अधिक बार अनेक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है । प्राण शब्द 'अन प्राणने' से निष्पन्न हुआ है ।[३] 'अन' शब्द गतिशीलता का सूचक है । प्र, अप, उत् +आ, वि + आ इन उपसर्गो के तथा 'सम' शब्द मे 'अन' शब्द का योग होने पर ही प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान शब्दो की निर्मिति होती है । इनके योग से मुख्य प्राण का गतिभेद ही द्योतित होता है ।उपनिषद् वाड्मय मे 'प्राण' का 'अन' प्रत्यक्ष नाम है । प्राण का सब प्रकार की चेष्टाओ मे व्याप्तिरूप गुण प्रदर्शित होने के कारण ही 'अन' उसका प्रत्यक्ष नाम है । 'प्र' आदि उपसर्ग पूर्व मे रहने से उसकी विशेष गति ही सिद्ध होती है ।[४] उपनिषदो मे शरीरस्थ पञ्च प्राण के, जीव, आत्मा, परब्रह्म ये अनेक अर्थ है । प्राण समस्त सत्ता

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ७९६-९७

२ Concordance. P 613-619

३ एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षम् । छा उप ५ २ १

४ सर्वप्रकार चेष्टा व्याप्तिगुणप्रदर्शनार्थमन इति प्राणस्य प्रत्यक्ष नाम । प्राद्युपसर्गपूर्वत्वे हि विशेषगति रेव स्यात् । छा उप शा भा वही.

की नाभि[१] और शरीर रूपी शकट का अश्व है ।[२] प्राण शरीर को धारण करता है[३] तो अन्न से शरीर मे प्रतिष्ठित होता है ।[४] इसीलिये अन्न शरीरमे प्राण को बॉधने वाली रस्सी है ।[५] प्राण की गति अन्न पर निर्भर है ।[६] प्राण ही सम्पूर्ण अङ्गो का रस है ।[७] मन भी प्राणरूपी बधनवाला है ।[८] सम्पूर्ण इन्द्रियवर्ग मे प्राणो का श्रेष्ठत्व[९] और ज्येष्ठत्व[१०] है ।प्राण की सृष्टि परमात्मा ने की है । जैसे छाया पुरुष पर ही आश्रित होती है वैसे प्राण परमेश्वर पर आश्रित है ।[११] इसलिये परब्रह्म को 'प्राणस्य प्राण'[१२] अर्थात् प्राण का प्राण कहा गया है । प्राण ही ब्रह्म है ।[१३]

निर्वचन

प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति ।[१४]

प्राणन क्रिया करने के कारण 'प्राण' नाम वाला होता है । प्रश्न उपस्थित होता है कि 'प्राण' सज्ञा किसकी है ? प्राणसज्ञा आत्मतत्त्व की है । प्राणन क्रिया करने से ही आत्मा प्राण सज्ञा को प्राप्त करता है । यह आत्मा का कर्मानुसारी नाम है । आत्मा इस शरीर मे नखाग्रपर्यन्त प्रवेश किये हुए है । जैसे छुरा छुरे के घर मे छिपा रहता है, जैसे अग्नि, अग्नि के आश्रय याने कि लकडियो मे छिपी रहती है

---

१ वही ७ १५ १

२ यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः । वही ८.१२ ३

३ तान्वरिष्ठ प्राण उवाच– अहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति । प्रश्न.उप.२.३

४. प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीर प्रतिष्ठितम् शरीरे प्राणः प्रतिष्ठित । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । तै उप ३.७

५ अन्नं दाम । बृह उप २ २.१

६. छा उप १.८.४.

७ वही १ २ १०, १ ३.१९

८. प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति । वही ६.८ २.

९. छा.उप ५ १ ६

१०. प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । वही ५.१ १

११. मु उप २.१ ३

१२ केन उप १.२.

१३ प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । तै उप ३.३

१४ बृह उप १ ४७.

वैसे ही आत्मतत्त्व प्रत्येक वस्तु मे प्रविष्ट होकर निगूढ रहता है । जैसे अग्नि को उसके आश्रय अर्थात् लकडियो मे देखना कठिन है वैसे ही गुह्य आत्म-तत्त्व को पूर्ण रूप मे देखना सम्भव नही है ।[१] उस परम-तत्त्व को अपूर्ण रूप मे ही देखना सम्भव है । जब आत्मा प्राणन क्रिया करता है तो 'प्राण' कहलाता है, जब बोलता है तो 'वाक्' नाम वाला हो जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि उस चेतनत्त्व का प्रत्येक इन्द्रिय की क्रिया अथवा कार्य मे आशिक रूप से बोध होता है, पूर्ण रूप से नहीं । प्राण, वाक्, चक्षु आदि एक-एक को आत्मा समझकर जो आत्म-तत्त्व की उपासना करता है वह अपूर्ण परम-तत्त्व की ही उपासना करता है । अत 'आत्मा है' **(आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति)** इस प्रकार उपासना करनी चाहिये , क्योकि इस आत्मा मे ही सम्पूर्ण इन्द्रियवर्ग एक हो जाता है ।[२] अत प्राणन क्रिया करने के कारण ही आत्मा की प्राण सज्ञा होती है ।

---

१ आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुर क्षुरधानेऽवहित स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वभरकुलाये त न पश्यन्ति । अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति एतानि कर्मनामान्येव । वही.

२ स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवापासीतात्र ह्येते सर्व एक भवन्ति । तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद । वही

बृहस्पति

शाब्दिक अर्थ

बृहस्पति शब्द (पु.) बृहता वाचा पति षष्ठी तत्पुरुष, नि सुट् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — देवताओ के गुरु, बृहस्पति ग्रह, एक स्मृतिकार का नाम ।[१]

उपनिषद् और बृहस्पति

प्रमुख उपनिषदो मे 'बृहस्पति' शब्द आठ बार[२] उपलब्ध होता है । तैत्तिरीयोपनिषद् की शीक्षावल्ली के शान्तिपाठ मे देवताओ से ब्रह्मविद्या के विघ्नो की शान्ति के लिये प्रार्थना करते समय मुमुक्षु कामना करते हैं कि, 'वाणी और बुद्धि के अभिमानी[३] बृहस्पति[४] देवता हमारे लिये शान्तिदायक हो ।' पुन ब्रह्मानन्दवल्ली मे ब्रह्मानन्द के निरतिशयत्व की मीमासा करते हुए यह बताया गया है कि, 'इन्द्र के जो सौ आनन्द है वही बृहस्पति का एक आनन्द है और बृहस्पति के जो सौ आनन्द है वही प्रजापति का एक आनन्द है ।'[५] वह आनन्द श्रोत्रिय, निष्पाप और अकामहत पुरुष द्वारा प्राप्त किया जाता है । अतः पूर्व-पूर्व की अपेक्षा बाद मे होने वाला आनन्द सौ गुना अधिक है । इस प्रकार आनन्द का क्रमश उत्कर्ष होने पर अन्त मे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है ।बृहदारण्यकोपनिषद् मे प्राण के बृहस्पतित्व की उपपत्ति करते हुए ऋषि कहते है कि, 'प्राण ही बृहस्पति है' ।[६]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ.पृ ८३४

२ Concordance P 641

३ वाचि बुद्धौ च बृहस्पति । तै उप शा भा १ १ १

४ श न इन्द्रो बृहस्पति । तै उप १ १ १

५ श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत बृहस्पतेरानन्दा । स एक प्रजापतेरानन्द । वही २ ८ १

६ बृह उप १ ३ २०

निर्वचन - १

एष एव उ बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः ।[१]

प्राण ही बृहस्पति है । वाक् ही बृहती है, उसका यह पति है । अत यह बृहस्पति है ।

प्राण ही आङ्गिरस बृहस्पति है । वाक् ही बृहती अर्थात् छत्तीस अक्षरो वाला बृहती छन्द है । परन्तु अन्यत्र यह भी तो कहा गया है कि, वाक् अनुष्टुप् है । **वाग्वा अनुष्टुप् ।**[२] किन्तु वह अनुष्टुप् वाक् बृहती छन्द मे ही अर्न्तभूत हो जाती है । अत वाक् ही बृहती है । अन्य श्रुति मे यह भी कहा गया है कि, 'प्राण बृहती है, प्राण ऋक् है ।' प्राण रूप से बृहती की स्तुति किये जाने के कारण बृहती मे भी सम्पूर्ण ऋचाओ का अन्तर्भाव हो जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण ऋचाये वाक्रूपा है । इसलिये भी प्राण मे उनका अन्तर्भाव होता है ।

वाक् का याने कि बृहती का अर्थात् ऋक् का यह प्राण पति है, क्योकि यही वाणी को अभिव्यक्त करने वाला है । कैसे ? जठराग्नि द्वारा प्रेरित शरीरान्तर्गत जो प्राणवायु है वही ऊपर की ओर जाकर कण्ठादि स्थानो से आहत हो वर्णो के रूप मे अभिव्यक्त होती है । वाक् प्राणात्मिका है तो ऋक् भी वागात्मिका है । वाणी का पालन करने के कारण यह उसका पति है ।**पालनाद्वा वाचः पतिः । प्राणेन हि पाल्यते वाक् । अप्राणस्य शब्दोच्चारणसामर्थ्याभावात् । तस्मादु बृहस्पतिर्ऋचां प्राण आत्मेत्यर्थः ।**[३] प्राण से ही वाणी का पालन होता है, क्योकि प्राणहीन मे शब्दोच्चारण की शक्ति नही होती । अतः यह बृहस्पति अर्थात् ऋचाओ का प्राण अर्थात् आत्मा है ।

निर्वचन-२

तेन त ॅ् बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ।[४]

---

१ वही.

२. नृसिह पू १ १

३ बृह .उप शा. भा. १ ३ २० .

४. छां उप १.२.११.

अङ्गिरा ऋषि ने मुख्य प्राण के रूप मे उद्गीथ की उपासना की थी। प्राण ही आङ्गिरस है। इसी कारण बृहस्पति ने उस प्राण के रूप मे उद्गीथ की उपासना की थी। इस आङ्गिरस प्राण को ही बृहस्पति कहते है; क्योकि वाक् ही बृहती है और यह उसका पति है।

इसी उपनिषद् मे 'विनर्दिगुण विशिष्ट साम' की उपासना के सन्दर्भ मे बृहस्पति के सामगान को क्रौञ्च पक्षी के शब्द के समान वर्णित किया गया है। विनर्दि उसे कहते है जिसका 'नर्द' अर्थात् स्वरविशेष ऋषभ (बैल) के शब्द के समान विशिष्ट होता है। वह 'विनर्दि' गान है। प्रजापति का गान विशेष 'अनिरुक्त' है अर्थात् उसे विशेषरूप से निरुपित नही किया जा सकता। जबकि सोम देवता सम्बन्धी जो उद्गीथ है वह 'निरुक्त' अर्थात् स्पष्ट है। जो गान 'मृदु' और 'श्लक्ष्ण' है वह वायु देवता से सम्बन्धित है। इन्द्र देवता का गान 'श्लक्ष्ण' और 'बलवान्' है। बृहस्पति का उद्गीथ गान 'क्रौञ्च पक्षी' के शब्द के समान है। वरुण देवता सम्बन्धी गान 'अप्ध्वान्त' अर्थात् फूटे हुए कॉसे के स्वर के समान है।

बृहस्पति शब्द की इन उपर्युकत निरुक्तियो से यह ज्ञात हो जाता है कि प्राण ही बृहस्पति है, क्योकि वाणी का उच्चारण करने और पालन करने के कारण वह उसका पति है।

ब्रह्मणस्पति

शाब्दिक अर्थ

ब्रह्मणस्पति शब्द ब्रह्मण + पति से निष्पन्न होता है । इसका शाब्दिक अर्थ है— ब्रह्म का पति ।

उपनिषद् और ब्रह्मणस्पति

प्रमुख उपनिषदो मे केवल बृहदारण्यकोपनिषद् मे 'ब्रह्मणस्पति' शब्द दो बार[१] एक ही मन्त्र मे उपलब्ध होता है । प्राण के ब्रह्मणस्पतित्व की उपपत्ति करते हुए ऋषि कहते है कि, यही ब्रह्मणस्पति है ।

निर्वचन

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ।[२]

प्राण ही 'ब्रह्मणस्पति' है । वाक् ही ब्रह्म है । उसका यह पति है । इसलिये यह ब्रह्मणस्पति है ।

अर्थात् वाक् ही ब्रह्म है । ब्रह्म अर्थात् 'यजु' है, क्योकि वह भी एक प्रकार की वाणी है । उस वाक् — यजु अर्थात् ब्रह्म का यह प्राण पति होने से यह ब्रह्णस्पति है ।

परन्तु यह कैसे जाना जाता है कि ब्रह्म यजु का वाचक है ? **वाग्वै साम**[३] इस वाक्य मे वाक् अर्थात् वाणी का साम के साथ समानाधिकरण्य बताया गया है । **वाग्वै बृहती** मे वाणी और बृहती अर्थात् ऋक् का समानाधिकरण्य है तो **वाग्वै ब्रह्म** जब कहा जाता है तो यहॉ ब्रह्म से यजु· ही अभिप्रेत है और वाक् और ब्रह्म

---

१ Concordance P 643

२ बृह उप १ ३ २१

३ वही १ ३ २२

अर्थात् यजु का समानाधिकरण्य है । यो भी **वाग्वै बृहती** और **वाग्वैसाम** कह देने पर 'यजु' ही पारिशष्ट रहता है । ऋक् और यजु वाग्विशेष ही है ।[१] अत प्राण ही ब्रह्मणस्पति है । प्राण और ब्रह्मणस्पति पर्याय है ।

---

१ बृह उप शा भा १ ३ २१

भामनी

शाब्दिक अर्थ

भामनी, भाम + नी धातु से (णीञ् प्रापणे) निष्पन्न होता है ।

उपनिषद् और भामनी

प्रमुख उपनिषदो मे 'भामनी' शब्द मात्र एक बार[१] छान्दोग्योपनिषद् मे उपलब्ध होता है । महर्षि सत्यकाम जाबाल अपने अन्तेवासी शिष्य उपकोसल कामलायन को नेत्रस्थित पुरुष के विषय मे उपदेश देते हुए कहते है कि 'यह जो पुरुष नेत्र मे दिखाई देता है, यह आत्मा है — यह 'अमृत' है, यह 'अभय' है और यह 'ब्रह्म' है ।[२] यह 'चक्षुओ का चक्षु' है[३] और यही 'भामनी' है ।[४]

निवर्चन

एष उ भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति । सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ।[५]

यह ब्रह्म ही 'भामनी' है । क्यो ? क्योकि यही सम्पूर्ण लोको मे भासमान होता है । सम्पूर्ण लोको मे आदित्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि के रूपो मे यही भासमान अर्थात् दीप्त होता है । ब्रह्म के प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित और दीप्तिमान है ।[६] अतः भामो अर्थात् प्रकाशो का वहन करने के कारण ही इसे भामनी कहा गया है ।

---

१. Concordance P. 672

२. य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति । छां उप ४.१५.१

३ चक्षुषश्चक्षु । केन.उप.१ २

४ छा उ ४ १५ १

५ वही.

६. तस्य भासा सर्वमिद विभाति । कठ उप ५.१६

अतो भामानि नयतीति भामनी: ।[१]

भामनी शब्द की इस औपनिषदिक निरुक्ति से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म ही समस्त प्रकाशरूपो मे दीप्त होने के कारण ही 'भामनी' सज्ञा को प्राप्त करता है । 'भामनी' ब्रह्म का पर्याय है ।

---

१ छा उप शा भा ४१५४

मति

शाब्दिक अर्थ

मति शब्द (स्त्री) मन् धातु + क्तिन् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है— बुद्धि, मन, हृदय, विचार, धारणा, विश्वास, कल्पना सङ्कल्प, सम्मान, कामना, और स्मृति ।[१]

उपनिषद् और मति

प्रमुख उपनिषदो मे 'मति' शब्द केवल सात बार[२] उपलब्ध होता है । प्रज्ञासज्ञक मन के अनेक नाम है । उनमे 'मति' भी परिगणित है । सज्ञान, आज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, सकल्प , क्रतु, असु (प्राण) काम और वश ये प्रज्ञान के नाम है[३] । शकराचार्य 'मति' शब्द का अर्थ 'मनन करना' करते है । **मतिर्मननम्**[४]

निर्वचन

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मति-स्त्वेव विजिज्ञासितव्येति ।[५]

अर्थात् जिस समय मनुष्य मनन करता है तभी वह विशेषरूप से जानता है, बिना मनन किये कोई नही जानता, अपितु मनन करने पर ही जानता है । अत मति ही विशेष रूप से जिज्ञासा करने योग्य है । अतः मति मन् धातु अवबोधने से निष्पन्न होता है । आत्मा मति का मन्ता है, मनुष्य उसका मनन नही कर सकता । इसका

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ८८१

२ Concordance P 707-8

३ ऐत उप ३ १ २

४ शां भा वही

५ छा उप ७ १८ १

तात्पर्य यह हुआ कि मति की मनन शक्ति अपनी नही है । चेतन तत्त्व ही मति का 'मन्ता' है ।[१] **न मतेर्मन्तारं मन्वीथा**। आत्मा सर्वान्तर है । सुषुप्ति मे भी द्वैत का अभाव हो जाने के कारण वह जो मनन नही करता सो मनन करता हुआ ही मनन नही करता । मनन करने वाले की मनन शक्ति का सर्वथा लोप नही होता , क्योकि वह अविनाशी है । उस अवस्था मे उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है नही, जिसके विषय मे वह मनन करे ।

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्त यन्मन्वीत।[२]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह बोध होता है कि मति का कार्य मनन करनाहै । परन्तु वह 'मन्ता' अर्थात् आत्मा के बिना मनन करने मे असमर्थ है । सुषुप्ति मे मन की वृत्ति मति अपने मनन कार्य से निवृत्त हो जाती है । परन्तु मनन शक्ति लुप्त नही होती, क्योकि आत्मा अमर है ।किसी अन्य वस्तु के न होने के कारण ही वह मनन से निवृत्त होती है । मति मन् धातु - अवबोधने से व्युत्पन्न है ।

---

१ बृह उप ३४.२

२ वही ४३२८

महस् = महः

शब्दार्थ अर्थ

महस् शब्द (न) मह् + असुन् से निष्पन्न हुआ है । इसके शाब्दिक अर्थ है— भेट, नैवेद्य, बलि, उत्सव, दीप्ति आभा, महर्लोक, महत्ता, गायत्री मन्त्र की चौथी व्याहृति और आनन्द ।[१]

उपनिषद् और महः (महस्)

प्रमुख उपनिषदो मे 'मह 'शब्द केवल छान्दोग्य और तैत्तिरीयोपनिषद् मे नौ बार[२] उपलब्ध होता है । गायत्री मत्र की 'भू' 'भुव,' 'सुव 'ये तीन व्याहृतियाँ है । चौथी व्याहृति 'मह 'के द्रष्टा महाचमस ऋषि थे ।[३] यह मह क्या है ? 'मह' ही आत्मा है । 'व्याप्ति' अर्थ वाले आप् धातु से 'आत्मा' निष्पन्न होता है । स आत्मा **आप्नोतेर्व्याप्तिकर्मणः** ।[४] भू — यह व्याहृति यह लोक है । मह· — यह व्याहृति आदित्य है ।भुव — यह व्याहृति अन्तरिक्ष लोक है । सुव — यह व्याहृति स्वर्गलोक है ।

निर्वचन

मह : इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते ।
महः इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीँषि महीयन्ते ।
महः इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ९०३

२ Concordance P 730

३ भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतय । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्य प्रवेदयते मह इति तदब्रह्म । स आत्मा । तै उप १ ५ १

४ शा भा वही

महः इति अन्नम्। अन्नेनवाव सर्वे प्राणा महीयन्ते।[१]

अर्थात् 'मह' आदित्य है, क्योकि आदित्य से ही लोक वृद्धि को प्राप्त होते है। मह ब्रह्म है, क्योकि ब्रह्म से ही समस्त वेद वृद्धि को प्राप्त होते है। मह अन्न है, क्योकि अन्न से ही समस्त प्राण वृद्धि को प्राप्त होते है। इस 'मह' व्याहृति की उपासना करने से उपासक महान् हो जाता है।[२] अत मह शब्द महि धातु वृद्धौ से निष्पन्न होता हुआ है। इसीलिये इसकी उपासना करने से मनुष्य महान् होता है।

---

१ वही-१ ५ २

२ तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति।वही-३ १० ३

मात्रा

शाब्दिक अर्थ

मात्रा शब्द (स्त्री) मात् + टाप् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — परिमाण, नाप का परिमाण, नियम, ठीक-ठीक नाप, पल, क्षण, अणु, अश, धन, सम्पत्ति । छन्दशास्त्र मे इसे मत्त, मत्ता, कल या कला और जडात्मक ससार कहते है ।[१]

उपनिषद् और मात्रा

प्रमुख उपनिषदो मे 'मात्रा' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो मे ग्यारह बार[२] हुआ है ।छादोग्योपनिषद् ो बर्णित है कि सामोपासना को जानने वाला यजमान निश्चय ही यज्ञ की मात्रा को जानता है ।[३] 'यज्ञस्य मात्रा' का भाष्य करते हुए शकराचार्य मात्रा शब्द का अर्थ यज्ञ का 'यथार्थ स्वरूप' करते है ।[४] मात्रा शब्द काल के परिमाण अर्थ मे भी हुआ प्रयुक्त है । **संवत्सरस्य मात्रामशयत** ।[५] सृष्टि के प्रारम्भ मे अण्डा सवत्सर नाम से प्रसिद्ध काल की मात्रा याने परिमाण तक अर्थात् पूरे एक वर्ष तक उसी प्रकार पडा रहा । यहाँ मात्रा शब्द काल को मापने के अर्थ मे वर्णित हुआ है ।[६] मात्रा शब्द का प्रयोग 'अश' अर्थ मे भी प्राप्त होता है । जैसे सब नदियाँ समुद्र मे गिरकर एक हो जाती है वैसे ही सुषुप्ति मे सारी इन्द्रियाँ आत्मा मे आकर एक हो जाती है । जैसे समुद्र मे चारो ओर पानी ही पानी हो जाता वैसे

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ.पृ ९१३

२ Concordance पृ 738-39

३ छा.उप.२ २४१६

४. यज्ञस्य मात्रा यज्ञयाथात्म्यं वेद । शा भा.वही.

५ वही ३.१९ १

६. संवत्सरस्य कालस्य प्रसिद्धस्य मात्रा परिमाणम् ....। शा भा.वही

ही सुषुप्ति मे आत्मा-ही आत्मा रह जाता है । उस समय एक अद्वैत द्रष्टा रहता है । यही उसकी 'परमगति' है, 'परम सम्पद' है, 'परमलोक' है, 'परम आनन्द' है ।[१] इस परम आनन्द की मात्रा अर्थात् अश का आश्रय लेकर ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते है । शकराचार्य मात्रा का अर्थ 'कला' करते है ।[२] मात्रा का अर्थ भाग या हिस्सा भी है । जैसे सुनार 'पेशसोमात्रा' याने कि सुवर्ण का भाग लेकर दूसरे नये और कल्याणतर अर्थात् अधिक सुन्दर आभूषण बनाता है ।वैसे ही आत्मा इस शरीर को नष्ट कर दूसरे-पितर, गन्धर्व, देव प्रजापति, ब्रह्मा आदि नये और कल्याणतर रूपो की रचना करता है । पेशसोमात्रा, शब्द का अर्थ है-सुवर्ण का भाग ।

तैत्तिरीयोपनिषद् की शीक्षावल्ली मे, वर्ण-स्वर, मात्रा-बल, साम-सन्तान का विशद् विवेचन है । माण्डूक्योपनिषद् मे शब्दोच्चारण मे प्राण के प्रयत्नरूप को 'मात्रा' ही बताया गया है । यहाँ मात्रा शब्द से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत मात्राये ही अभिप्रेत है । आत्मा चतुष्पाद् है । आत्मा अक्षरदृष्टि से ओङ्कार है । वह मात्राओ का आश्रय लेकर स्थित रहता है । पाद ही मात्रा है और मात्रा ही पाद है । वे मात्राये अकार उकार और मकार है ।[३]

सोऽमयात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ।[४]

जागरित स्थान	वैश्वानर	अकार	प्रथमा मात्रा ।[५]
स्वप्न स्थान	तैजस	उकार	द्वितीय मात्रा ।[६]
सुषुप्त स्थान	प्राज्ञ	मकार.	तृतीया मात्रा ।[७]

---

१ अस्य परमागतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परमआनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति । बृह उप ४ ३.३२

२ मात्रा कलाम् । शा भा.वही

३ शीक्षा व्याख्यास्याम' । वर्ण स्वर' । मात्रा बलम् । साम सन्तान' । इत्युक्तः शीक्षाध्याय .११ तै.उप १ २ १

४ मां.उप ८

५. जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकार' प्रथमा मात्रा । वही ९

६. स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा । वही. १०

७ सुषुप्तस्थान' प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा । वही.११

निर्वचन

मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति ।[१]

मकार ओङ्कार की तीसरी मात्रा है । आत्मा का तृतीय पाद प्राज्ञ और ओङ्कार का मकार दोनो मे समानता है । कैसे ? 'मिति' के कारण । मिति 'मान' को कहते है । जैसे 'प्रस्थ' एक प्रकार का बाट होता है जिससे जौ तोले जाते है । उसी प्रकार प्रलय और सृष्टि के समय प्रवेश (लय) और निर्गमन (पुनर्सृष्टि) के द्वारा प्राज्ञ से विश्व और तैजस मापे जाते है । वैसे ही ओङ्कार की समाप्ति पर उसका पुन प्रयोग करने पर या उच्चारण करने पर, अकार और उकार मकार मे प्रवेश कर उससे पुन प्रयोग करने पर या उच्चारण करने पर, अकार और उकार मकार से पुन निकलते है ।

अत मात्रा शब्द मिते अर्थात् 'माञ् माने शब्दे च' से निष्पन्न होता है । निरुक्त के अनुसार भी 'मात्रा मानाद्' से व्युत्पन्न है । मात्रा का अर्थ है — जो नापी जाये ।[२] इस प्रकार मात्रा शब्द यज्ञ के यथार्थ स्वरूप, काल के परिमाण, अश, भाग या हिस्सा और ओङ्कार की तीन मात्राओ के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । यह शब्द 'माञ्' माने से निष्पन्न हुआ है ।

---

१ वही

२ निरुक्त ४२५

यजुस् = यजुः

शाब्दिक अर्थ

यजुस् (न) इज्यतेऽनेन यज् धातु + उसि से निष्पन्न होता है । यजुर्वेद सहिता के वे मन्त्र जो यज्ञ के समय पढे जाये और जिन मत्रो मे चरण या अवसान विषयक कोई नियम न हो वे 'यजुस्' है । इसका अभिप्राय यह है कि वे 'गद्य मन्त्र' है । यजुर्वेद के नाम को यजुस् कहते है । यजुर्वेद (पु) वेदत्रयी मे दूसरा वेद है । यजुर्वेद की दो मुख्य शाखाये है तैत्तिरीय अथवा कृष्णयजुर्वेद और वाजसनेयि अथवा शुक्लयजुर्वेद ।[१]

उपनिषद् और यजुष्

प्रमुख उपनिषदो मे 'यजुष्' शब्द बीस[२] से भी अधिक बार उपलब्ध होता है । प्रमुखत तो 'यजुष्[३] शब्द का उल्लेख ऋक्' साम और यजुर्वेद सहिताओ मे से एक सहिता के रूप मे ही आया है । अथवा मनुष्य की ऑख के भीतर जो पुरुष दिखाई देता है वही 'ऋक्' है, वही 'साम' है, वही 'उक्थ' है, वही 'य्रजु ' है और वही 'ब्रह्म' है, ऐसा वर्णित किया गया । अत यजुस् पुरुष के पर्याय के रूप मे मिलता है ।[४] छादोग्योपनिषद् के अनुसार आदित्य देवमधु है । इस देवमधु का द्युलोक ही तिरछा बॉस है जिस पर सूर्य-रूपी मधु, अतरिक्ष रूपी छत्ते के रूप में,

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ९४८

२ Concordance P 948

३ तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेव पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि । ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋच साम्नो यजुष स्वरमेव प्राविशन् । छां उप १.४३;६.७२, बृहउप ५.१४२; प्रश्नउप. २.६; मु उप २.१६

४ अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म । वही १७५

साम और अथर्वाङ्गिरस रूपी मधुमक्खियाँ है ।[१] ऋक्, यजुस्, साम और अथर्वाङ्गिरस इस देवमधु की मधुमक्खियाँ है ।

आदित्य-दिशा	मधुनाड़ी	मधुकृत	पुष्प	रस
(१) पूर्व दिशा = की किरणे	छत्ते की पूर्व दिशा की मधुनाडियाँ	ऋक्	ऋग्वेद	अमृता आप = यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, अन्नाद्यम् ।[२]
(२) दक्षिणा दिशा= की किरणे	छत्ते की दक्षिण दिशा की मधुनाडियाँ	यजूषि	यजुर्वेद	अमृता आप = यशः, तेज इन्द्रिय वीर्य,अन्नाद्यम् ।[३]
(३) पश्चिम दिशा= की किरणे	छत्ते की पश्चिम दिशा की मधुनाडियाँ	सामानि	सामवेद	अमृता आप = यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, अन्नाद्यम् ।[४]
(४) उत्तर दिशा की किरणे	छत्ते की उत्तर दिशा की मधुनाडियाँ	अथर्वाङ्गिरस	इतिहास-पुराण	अमृता आप = यशः, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, अन्नाद्यम्[५]

उपर्युक्त सन्दर्भो से ज्ञात होता है कि देवमधु की निर्मिति मे चारो वेदो का अभूतपूर्व योगदान है । पुनः ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए बताया गया कि —

---

१. ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु । तस्य द्यौरेव तिरश्चीनँ शोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्रा । वही ३ १ १

२ वही ३.१.२-४

३ वही ३ २ १-३

४ वही ३ ३.१-३

५ वही ३ ४.१-३

(१) अग्नि से 'ऋक्' उत्पन्न हुआ ।
वायु से 'यजु' उत्पन्न हुआ ।
आदित्य से 'साम' उत्पन्न हुआ ।[१]

(२) त्रयी विद्या को तपाने से— ये तीनो व्याहृतिया उत्पन्न हुई ।
(१) ऋक् से 'भू·' व्याहृति उत्पन्न हुई ।
(२) यजु से 'भुव' व्याहृति उत्पन्न हुई ।
(३) साम से 'स्व' व्याहृति उत्पन्न हुई ।[२]

यदि 'ऋचा पाठ' मे होता से अशुद्धि हो जाये तो 'भू स्वाहा' कहकर गार्हपत्याग्नि मे[३], यदि 'यजु-पाठ' मे अध्वर्यु से अशुद्धि हो जाये तो 'भुव स्वाहा' कहकर दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्यपचनाग्नि) मे[४] यदि 'साम-पाठ' मे उद्गाता से अशुद्धि हो जाये तो 'भुव स्वाहा' कहकर आहवनीयाग्नि मे आहुति देनी चाहिये । क्योकि ऋचाओ के रस और वीर्य द्वारा ऋचा पाठ के 'क्षत' अर्थात् घाव की पूर्ति सम्भव है । यजु· के रस और वीर्य से यजु पाठ के, साम के रस एव वीर्य से साम-पाठ के, 'क्षत' या घाव की पूर्ति सम्भव है ।[५] इस प्रकार इन सन्दर्भो से यजु की उत्पत्ति और यजु· से व्याहृति की उत्पत्ति एव अशुद्ध पाठ की पूर्ति कैसे सम्भव हो सकती है इसका बोध होता है । तैत्तिरीयोपनिषद् मे 'भू' को ऋक्, 'भुव' को साम, 'सुव' को यजु· और 'मह' को ब्रह्म कहा गया है ।[६]

---

१ स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानां रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूँषि सामान्यादित्यात् । छां उप ४.१७ २

२ स एतां त्रयी विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्य· स्वरिति सामभ्य । वही.४१७.३.

३ वही

४ वही ४.१७४

५. अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुव· स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टँ सदधाति । वही ४१७५.

६. भूरिति वा ऋच· । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूँषि । मह इति ब्रह्म । तै.उप. १५२-३

निर्वचन

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यँ सलोकतां जयति य एवं वेद ।[१]

यजु के उपर्युक्त निर्वचन मे 'यजु' शब्द का अर्थ 'योग' है । यहाँ यजु शब्द यज् धातु से निष्पन्न होता है । शरीर में यजु अर्थात् प्राण का योग होने पर ही मनुष्य कार्य करता है । प्राण मे ही प्राणिवर्ण का योग होता है । प्राण के न रहने पर किसी के साथ किसी का योग होने का सामर्थ्य नही है ।[२] अत योग करने के कारण ही प्राण यजु है ।**अतो युनक्तीति प्राणो यजुः ।**[३]

---

१ बृह उप ५.१३.२

२ प्राणो वै यजु:,कथं यजु: प्राण ? प्राणे हि यस्मात् सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते । न ह्यसति प्राणे केनचित् कस्याचिद् योगसामर्थ्यम् । बृह.उप.शा.भा.५.१३.२

३ वही.

रस

शाब्दिक अर्थ

रस शब्द (पुं.) रस् धातु + अच् वा घ से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है —वृक्षो से निकलने वाला एक प्रकार का सार, तत्त्व, जल, तरल पदार्थ, आसव रस प्रीति, आनन्द, हर्ष, मनोज्ञता, सौन्दर्य, भाव और भावना । साहित्य मे रस वह आनन्दात्मक चित्तवृत्ति या अनुभव है जो विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव से युक्त किसी स्थायीभाव के व्यञ्जित होने से पैदा होता है । साहित्य मे आठ रस माने गये है ।रस को कविता की आत्मा कहा गया है ।[१]

उपनिषद् और रस

प्रमुख उपनिषदो मे 'रस' शब्द चालीस से अधिक बार विभिन्न अर्थो मे प्राप्त होता है ।[२] छादोग्योपनिषद् मे रसो की एक शृखला का वर्णन उपलब्ध होता है । समस्त भूतो का रस 'पृथिवी' है । पृथिवी का रस 'जल' है । जल का रस 'ओषधियाँ' है ।ओषधियो का रस 'पुरुष' है । पुरुष का रस 'वाक्' है । वाक् का रस 'ऋक्' है । ऋक् का रस 'साम' है और साम का रस 'उद्गीथ है ।[३] (ओ३म् का 'उद्' याने कि उच्च स्वर मे 'गीथ' - गायन ही उद्गीथ है) उद्गीथ को समस्त रसो मे रसतम याने कि 'सारतम' माना गया है ।

स एषः रसानाँ रसतमः ।[४]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ.पृ.९७०

२ Concordance. P 785-96

३ एषां भूतानां पृथिवी रस॰ पृथिव्या आपो रस । अपामोषधयो रस ओषधीना पुरुषो रस॰ पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋच॰ साम रस॰ साम्न उद्गीथो रस । छांउप १ १ २

४ वही.१ १.३.

वृक्षो मे रस होता है । मधुमक्खियाँ विभिन्न दिशाओ मे स्थित वृक्षो के रस को लाकर मधु बनाती है । जब विभिन्न रस मिलकर मधु बन जाते है, तब मनुष्य भेद नही कर सकता है कि, 'यह आम के वृक्ष का रस है या कटहल के वृक्ष का रस है ।' अनेक वृक्षो के खट्टे, मीठे, तीखे अथवा कडुवे रसो का भेद मधु बनने पर समाप्त हो जाता है । जैसे सभी रस मिलकर 'मधुमय' हो जाते है;[१] वैसे ही प्रजा जब 'सत्' नामक परमतत्त्व को प्राप्त कर, लेती तब वह भेद नही कर पाती है कि 'मै अमुक' का पुत्र हूँ 'मै अमुक' का नाती हूँ । ये सब भेद तब तक होते है जब तक वह परम तत्त्व सत् से एकाकार नही हो जाते । जैसे समस्त रस 'मधुमय' हो जाते है वैसे ही समस्त प्रजा 'सन्मय' हो जाती है ।[२]

मनुष्य के अङ्गो मे भी रस होता है । प्राण मनुष्य के अङ्गो का रस है । इसीलिये उसे 'आङ्गिरस' सज्ञा दी गई

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः ।[३]

जिह्वा ही सब रसो का 'एकायन' याने कि आश्रय है । रसनेन्द्रिय द्वारा ही सब रसो का रसास्वादन किया जाता है । यही सब रसो का आश्रयभूत याने कि लयस्थान है । खट्टे, मीठे, तीखे, कसैले, और कडुवे सभी रसो का आश्रय रसनेन्द्रिय है ।

सर्वेषां रसानां जिह्वैकायनमेव ।[४]

'रसो वै सः' । इसलिये जिह्वा ही 'ग्रह' है और रस 'अतिग्रह' है, क्योकि प्राणी जिह्वा से ही रसो को विशेषरूप से जानता है ।[५] परमपुरुष से ही समस्त समुद्र, पर्वत उत्पन्न हुए है । इसी से अनेक नदियाँ निकलती है । इसी से सम्पूर्ण ओषधियाँ

---

१ यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्समवहारमेकतां रस गमयन्ति । छां.उप.६ ९ १

२ ते तथा तत्र न विवेक लभन्तेऽमुष्याह वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव ___ । छा.उप ६.९ २.

३ बृह.उप १ ३.८.

४ वही २.४.११.

५ जिह्वा वै ग्रह स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान् विजानाति । वही ३ २ ४

और रस प्रकट हुए है ।[1] आत्मा के द्वारा ही मनुष्य रूप, रस, गन्ध , शब्द, स्पर्श और मैथुनजनित सुखो को अनुभव करता है ।[2] सृष्टि के प्रारम्भ मे असत्-(अव्याकृत) था । उसी से सत् उत्पन्न हुआ । असत् ने स्वय अपने को ही नामरूपात्मक जगत् रूप से रचा । इसलिये वह 'सुकृत' हुआ अर्थात् स्वय रचा हुआ कहा जाता है । यह जो सुकृत है, वही रस है ।**रसो वै सः** । इस रस का पाकर मनुष्य आनन्दी अर्थात् सुखी हो जाता है । अत रस 'ब्रह्म' का और 'सुकृत' का पर्याय है ।[3]

निर्वचन

रसश्च रसितव्यं च ।[4]

यद् वै तन्न रसयते रसयन् वै तन्न रसयते न हि रसयत् रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यद रसयेत् ।[5] रस शब्द 'रस धातु आस्वादनस्नेहयो ' से व्युत्पन्न हुआ है । सुषुप्त्यावस्था मे आत्मा जो रसास्वादन नही करता है तो वह रसास्वाद करता हुआ ही नही करता ।उस समय रसास्वाद करने वाली रसग्रहणशक्ति का सर्वथा लोप नही होता, क्योकि वह अविनाशी है । उस सुषुप्त्यावस्था मे उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नही, जिसका वह रस ग्रहण करे ।' सुषुप्ति मे सब इन्द्रियाॅ मन मे एकीभूत हो जाती है । इसीलिये उस अवस्था मे पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूॅघता है, न रसास्वादन करता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न मलोत्सर्ग करता है और न कोई चेष्टा करता है, तब उसे स्वपिति अर्थात् सोता है, ऐसा कहते है ।[6]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदवाड्मय मे रस विभिन्न अर्थो मे — पुष्पो के रस, अङ्गो के रस पृथिवी के रस, जल के रस, ओषधियो के

---

१ अत समुद्रा गिरयश्च सर्वऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव- सर्वरूपा ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा । मुं उप.२ १.९.

२ येन रूपं रस गन्ध शब्दान्स्पर्शां्श्चमैथुनान् एतेनैव विजानाति— । कठ उप.४ ३

३ यद्वै तत्सुकृतम् रसो वै स । रसॅं ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति । तै.उप २ ७ १

४ प्रश्न.उप ४.८.

५ बृह उप ४.३ २५

६ तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ।प्रश्न उप ४ २

रस, पुरुष के रस, वाक्, ऋक् और साम के रस आदि मे प्रयुक्त हुआ है। रस की निरुक्ति है, रसास्वदान। रसास्वादन रसनेन्द्रिय से किया जाता है। रसनेन्द्रिय भी आत्मा द्वारा प्रेरित होकर ही रस का आस्वादन करती है। सुषुप्ति मे किसी अन्य पदार्थ की स्थिति न होने के कारण रसनेन्द्रिय होने पर भी रसास्वादन नही होता है।आत्मा ही के कारण रसनेन्द्रिय रसो को भोगती है। रस ब्रह्म का पर्याय भी है।

रुद्र

शाब्दिक अर्थ

रुद्र शब्द रुद् धातु + णिच् + रक् से निष्पन्न हुआ है । इसके शाब्दिक अर्थ हैं — भयानक, भयङ्कर, एकादश सख्यक एक प्रकार के गणदेवता । यह शिवजी का नाम है । ये शिव के अपकृष्ट रूप हैं । शङ्कर इनमे मुख्य है ।[१] इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण कहते है कि, **रुद्राणां शङ्करश्चास्मि ।**[२]

उपनिषद् और रुद्र

वैदिक वाड्मय मे 'रुद्र' मध्यमस्थानीय देवता है । रुद्र 'झझावात' एव 'रव' के प्रतीक है ।[३] उनका स्वरूप 'भयावह' और 'सौम्य' है । अथर्ववेद मे 'रुद्र' पशुपति[४] और महादेव हो जाते है तो यजुर्वेद मे शिव, शिवतर, शङ्कर, गिरित्र, गिरीश, गिरिचर, गिरिशय, पति, व्रात, व्रातपति, और गिरिशंत हो जाते है ।[५] उनकी स्तुति मे 'शतरुद्रीय' और 'त्र्यम्बक होम' दो पूरे सूक्त मिलते है । धीरे-धीरे रुद्र साधारण जन के देवता बन जाते है ।[६]

प्रमुख उपनिषदो मे 'रुद्र' शब्द लगभग बीस बार उपलब्ध होता है ।[७] बृहदारण्यकोपनिषद् मे 'रुद्र' गणदेवता के रूप मे 'गणश ' कहे गये है । वसु 'आठ' सख्या का गण है, रुद्र 'ग्यारह' है, आदित्य 'बारह' हैं और विश्वेदेव 'तेरह' है ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ. पृ. ९८०

२. श्रीमद्भगवद्गीता. १०.२३

३ वेबर इंडिशे स्टूडियन पृ १९

४ अथर्व. ११.२ १

५ यजुर्वेद वाजसनेयि स १० २०

६ यजु १८६

७ Concordance P 792-93

(ये सभी विश्वा के पुत्र है अथवा 'विश्वेदेवा ' का अर्थ है — सम्पूर्ण देवगण) । मरुद्गण 'उनचास' हैं । ये सभी देवता 'गणश ' हैं ।[१] इसका तात्पर्य यह है कि इन सभी देवताओ के गण (समूह) है । ये प्राय समूह बनाकर ही कार्य करते है । छादोग्योपनिषद् मे सामोपासना के प्रसङ्ग मे वर्णित है कि प्रात सवन 'वसुओ' का है, मध्याह्नसवन 'रुद्रों' का है तथा तृतीय सवन 'आदित्य' और 'विश्वदेवो का है ।[२] बृहदारण्यकोपनिषद् मे जनक के बहुदक्षिणा यज्ञ के अवसर पर आयोजित विद्वत्सम्मेलन मे महर्षि याज्ञवल्क्य और विदग्ध शाकल्य के सवाद मे शाकल्य महर्षि से पूछते है कि 'कितने देवगण है ?' याज्ञवल्क्य उत्तर देते है कि देव 'तीन' और 'तीन सौ' तथा 'तीन सहस्र' अर्थात् तीन हजार तीन सौ छ· हैं ।' देवताओ की यह सख्या मन्त्रपदो मे वर्णित है । विदग्ध के पुनः प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य देवताओ की सख्या क्रमशः 'तैतीस', 'छ·', 'तीन' 'दो', 'डेढ' और 'एक'[३] बताते हैं ।

विग्दध शाकल्य महर्षि से पुन पूछते है कि, 'रुद्र' कौन हैं ? महर्षि याज्ञवल्क्य उत्तर देते हुए कहते है कि 'पुरुष मे ५ कर्मेन्द्रियॉ, ५ ज्ञानेन्द्रियॉ— ये दस प्राण और ग्यारहवॉ 'आत्मा' अर्थात् मन ही रुद्र है । यहॉ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि आत्मा को मन क्यो कहा गया ? आत्मा को मन इसलिये कहा जाता है कि यही आत्मा मनन करने के करण 'मन' कहलाता है । **मन्वानो मनः ।**[४] मन आत्मा का 'कर्मानुसारी' नाम है । अत दस इन्द्रियॉ और ग्यारहवॉ मन ही 'रुद्र' है ।

निर्वचन

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ।[५]

---

१. यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति । बृह.उप.१.४.१२.

२. ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रात· सवन्ँ रुद्राणां माध्यन्दिनँ सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् । छा उप.२ २४ १

३. बृह उप ३ ९ १

४. वही १.४.७

५. वही ३.९.४

प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, देवदत्त, कृकट, धनञ्जय ये दस प्राण है । अथवा इन्द्रियो को भी प्राण कहा गया है । क्यो ? क्योकि वागिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय आदि ये सभी इन्द्रियाँ शरीर मे कार्य करती हुई श्रमित होती है याने कि थक जाती है । इस का तात्पर्य यह है कि इन सभी इन्द्रियो मे श्रमरूपी मृत्यु व्याप्त रहती है । परन्तु प्राण ही एकमात्र ऐसा है जो श्रमरूपी मृत्यु से कभी व्याप्त नही होता है । प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है क्योकि यह शरीर मे सञ्चार करते हुए और सञ्चार न करते हुए कभी श्रमित नही होता है, कभी व्यथित और हिसित नही होता है । इन्द्रियो ने 'प्राण' के इस रूप को पहचनाकर कहा कि, 'अब हम सब भी इस प्राण के रूपवाली ही हो जाये अर्थात् प्राण के आत्मभाव को ही प्राप्त हो जाये । ऐसा निश्चयकर वे सब इस प्राण का ही स्वरूप हो गई ।' कहने का तात्पर्य यह है कि वे भी इस प्राण के नाम से ही पुकारी जाने लगीं । उन्हे भी प्राणसज्ञा प्राप्त हो गई ।[१] अत ये दस प्राणरूपी इन्द्रियाँ मन सहित ग्यारह रुद्र कहलाते है । ये ग्यारह प्राण, प्राणियो के कर्मफलोपभोग का क्षय हो जाने पर, जब इस मरणधर्मा शरीर से उत्क्रमण करते है उस समय सम्बन्धियो को रुलाते है । अत· रोदन मे निमित्त होने के कारण 'रुद्र' कहलाते है ।

निर्वचन - २

प्राणा वाव रुद्रा एते हीॅं सर्वॅं रोदयन्ति ।[२]

छान्दोग्योपनिषद् मे भी प्राणे को रुद्र कहा गया है, क्योकि ये ही इस सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय को रुलाते है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् मे 'रुद्र' इस सतत परिवर्तनशील जगत का कर्त्ता, अधिष्ठाता एव सहर्त्ता बताया गया है ।[३] इस उपनिषद् मे वैदिक रुद्र को एक दार्शनिक धरातल प्रदान कर इसका दार्शनिकीकरण कर दिया गया ।इस उपनिषद् मे 'रुद्र' ब्रह्म के पद पर प्रतिष्ठित हो गये थे । विभिन्न भाष्यकर 'रुद्र' शब्द की

---

१ अय वे न श्रेष्ठो य सञ्चरॅं श्चासञ्चरॅं श्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रुपमभवॅं स्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति । बृह उप.१.५.२१

२ छां उप ३.१६ ३

३ यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि । श्वे उप ३ ४

विभिन्न निरुक्तिया प्रस्तुत कर उनके स्वरूप की विशद् व्याख्या निम्नरूपेण करते है ।

निर्वचन - ३

रुद्रं दुःखं द्राव्यतीति नाशयति इति रुद्रः । [१]

अर्थात् दु ख को द्रवित करने या नष्ट करने के कारण ही रुद्र है ।

निर्वचन - ४

रुजं संसार दुःखं द्राव्यतीति वा रुद्रः ।[२] अर्थात् ससार के दु ख को द्रवित करने के कारण ही वे 'रुद्र' है ।

निर्वचन - ५

संहारकाले सर्व रोदयतीति वा रुद्रः ।[३]

सृष्टि के सहारकाल मे सब को रुलाने के कारण वे रुद्र कहलाते है ।

निर्वचन - ६

संसाररुद्रं द्रावयतीति रुद्रः ।[४]

ससार के रुद्र अर्थात् भयानक दु ख का द्रवण करने के कारण ही वे 'रुद्र' कहलाते है ।

अत उपर्युक्त निर्वचनो से यह ज्ञात हो जाता है कि, 'ससार के दु खो को द्रवित' करनेवाला रुद्र है । अथवा सृष्टि के सहार काल मे, 'सबको रुलाने वाला ही रुद्र है । अथवा मृत्यु के समय 'इस मरणधर्मा शरीर से उत्क्रमण करते समय सभी सम्बन्धियो को रुलाते है', इसलिये प्राणो की ही सज्ञा 'रुद्र' है । रुद्र की उपर्युक्त सभी निरुक्तियो का स्वरूप दार्शनिक है ।

---

१ शकरानन्द दीपिका श्वेताश्वतरोपनिषद् आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क १७ (पुण्याख्यपत्तन) पृ.-१०८

२ विज्ञानात्मा विवरण, वही पृ २००

३. वही.

४ श्वेताश्वतरोपनिषद्, रङ्गारामानुज भाष्य, पृ २७

वर

शाब्दिक अर्थ

वर (वि) वृ धातु + अप् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — उत्तम और श्रेष्ठ । (पु) चुनने या वरण करने की क्रिया । अभिलाषा, इच्छा, याचना, पति, दामाद आदि ।[१]

उपनिषद् और वर

प्रमुख उपनिषदो मे 'वर' शब्द लगभग बीस बार[२] 'वरदान' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । वर दो प्रकार के होते थे ।— (१) दैव वर (२) मानुष वर । महर्षि उद्दालक आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु राजर्षि प्रवाहण जैवलि के पास पञ्चाग्निविद्या का ज्ञान प्राप्त करने हेतु जाते है । पञ्चालनरेश उन्हे अर्घ्यदान देते हैं और कहते है कि, 'भगवन् ! मै पूज्य गौतम को वर देता हूँ' ।[३] महर्षि बोले ठीक हैं, आपने कुमार श्वेतकेतु से जो प्रश्न (पञ्चाग्निविद्या सम्बन्धी) पूछे थे उन्ही के उत्तर बताइये ।'[४] तब राजर्षि जैवलि ने कहा, 'गौतम ! वह वर तो दैव-वर है, तुम कोई मानुष वर मॉग लो ।'

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद् वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ।[५]

प्रश्न हो सकता है कि 'मानुष वर' क्या है ? 'मानुष वर' मानुष वित्तवर है ।
मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति ।[६]

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ. पृ. ९७०

२ Concordance P. 785

३ अर्घ्यं चकार तँ होवाच वर भगवते गौतमाय दद्म इति । बृह. उप ६.२४.

४. वही ६ २ ५

५ वही ६.२ ६

६ छां उप ५ ३.६

महर्षि गौतम राजर्षि से कहते है कि, 'हे राजर्षि सुवर्ण, गौ, अश्व, दासी, परिवार और परिधान यह मानुष वित्त तो मेरे पास पर्याप्त है । आप महान्, अनन्त और नि सीम धन के दाता होकर मेरे लिये अदाता न हो । मुझे तो दैव-वर ही चाहिये ।'

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गो अश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिदानस्य मा नो भवान् बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्यो भूदिति ।[१] अत मानुष वित्त वर वह है जो भौतिक है और सान्त है । यमाचार्य ने जब नचिकेता को सौ - सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने वाले पुत्र - पौत्रो, अनेक पशुओ , हाथी, सुवर्ण, घोडे महदायतन वाली भूमि, दीर्घायुष्य, मर्त्यलोक की दुर्लभ कामनाओ, वाद्य-यन्त्रो से युक्त अलौकिक रुपपेशलयौवनाओ और सासरिक सुख भोगो याने कि मानुष वित्त वर माँग लेने को कहा । परन्तु मृत्यु के बाद क्या होता है यह प्रश्न पूछने के लिये मना कर दिया । यह प्रश्न ही एक दैववर था ।'[२] परन्तु नचिकेता ने भी ऋषि जैवलि की भाँति यही कहा कि, 'ये सुख भोग मनुष्य के लिये 'श्वोभाव' है अर्थात् आज है, कल नही । ये इन्द्रियो के तेज को क्षीण कर देते है । ये हाथी, घोडे, नृत्य-सगीत आप अपने पास रखे, ये मुझे नही चाहिये ।[३] महर्षि उद्दालक आरुणि मानुष वर के स्थान पर राजर्षि जैवलि से पञ्चाग्नि विद्या सबधी दैववर माँगते है । नचिकेता यमाचार्य से कहते हैं कि, 'मनुष्य के मर जाने पर यह जिज्ञासा रहती है कोई कहते है कि मरने पर भी मनुष्य बना रहता है, (अर्थात् आत्मा रहती है और कोई कहते है कि वह नही रहती है । मै आपसे इस विषय पर निश्चयात्मक उत्तर की कामना करता हूँ ।यही मेरा तीसरा दैववर है ।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥[४]

धन से कोई व्यक्ति तृप्त नही हो सकता । इसलिये मै तो यही दैववर माँगता हूँ । **वरस्तु मे वरणीयः स एव ।**[५]

१　बृह उप ६ २ ७

२　शतायुष पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमर्महदायतन वृणीष्व स्वय च जीवो शरदो यावदिच्छसि ।कठ उप १ २३ २४ २५

३　वही १.२६

४　वही.१.२०-२१

५　वही.१.२७

प्रमुख उपनिषदो मे 'वर' शब्द वरदान के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । सामगान के उपरान्त यजमान वर मॉगे ऐसा निर्देश भी उपलब्ध होता है ।**वरं वृणीत ।**[१] महर्षि प्रसन्न होकर वर-प्रदान करते थे । एक बार महर्षि याज्ञवल्क्य राजर्षि जनक के अग्निहोत्रपरक ज्ञान को देखकर इतने प्रसन्न हो गये कि, 'उन्होने राज जनक से वर मॉगने का कहा' । राजर्षि ने भी महर्षि से 'काम प्रश्न' (इच्छानुसार प्रश्न) पूछने का वर मॉग लिया । **तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे त॑ हास्मै ददौ त॑ ह सम्राडेव पूर्व पप्रच्छ ।**[२] कुछ समय बीत जाने पर महर्षि याज्ञवल्क्य राजर्षि जनक के पास यह सकल्प करके गये कि, 'मै राजा जनक को कुछ भी उपदेश नही करुँगा ।' इस प्रकार सकल्पवान होने पर भी महर्षि याज्ञवल्क्य को राजर्षि के द्वारा पूछे गये प्रश्नो के उत्तर इसलिये देने पडे, क्योकि वे उन्हे 'कामप्रश्न' अर्थात् इच्छानुसार प्रश्न पूछने का वर दे चुके थे । वचनबद्ध होने के कारण उन्हे अपना सकल्प त्यागना पडा । अत यदि वर दिया जाता था तो महर्षि अपने वचन का भी पालन करने थे ।

निर्वचन

(१) **प्रथमं वरं वृणे ।**[३]
(२) **द्वितीयेन् वृणे वरेण ।**[४]
(३) **तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ।**[५]
(४) **वृणीथा द्वितीयेन वरेण ।**[६]
(५) **अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व ।**[७]
(६) **एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व ।**[८]

---

१ बृह उप. १ ३ २८
२ बृह उप ४ ३ १
३ कठ उप १.१०
४ वही १ १३
५ वही १ १९
६ वही
७. वही १ २१
८ वही १ २७

(७) **योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ।**[१]

इन सभी सदर्भो मे वर शब्द वृ धातु वरणे से निष्पन्न होता है । इससे यह ज्ञात होता है कि उपनिषदयुग मे वर देने की प्रथा थी । वर दैव और मानुष दो प्रकार के होते थे । वर प्राप्त करनेवाले को वर 'वरण' करने की स्वतन्त्रता थी ।

१ वही १ २९

वसिष्ठ

शाब्दिक अर्थ

वशिष्ठ शब्द पु. वशवता वशिनां श्रेष्ठ, वशवत् + इष्ठन् मतोर्लुक्, वा वरिष्ठ पृषो साधु से बना है । इसका शाब्दिक अर्थ है — वसिष्ठ ऋषि । वे एक प्राचीन ऋषि थे । जो सूर्यवशी राजाओ के पुरोहित थे । वसिष्ठ एक स्मृतिकार का भी नाम है ।[१]

उपनिषद् और वसिष्ठ

प्रमुख उपनिषदो मे 'वसिष्ठ' शब्द आठ बार उपलब्ध होता है । वसिष्ठ शब्द प्राण के लिये भी प्रयुक्त हुआ है । एक बार प्राण अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियवर्ग 'मै श्रेष्ठ हूँ' 'मै श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार विवाद करते हुए ब्रह्मा के पास गया और बोला कि हममे से कौन वशिष्ठ है[२] ?' तब प्रजापति ने उनसे कहा, 'तुममे से जिसके उत्क्रमण कर जाने पर यह शरीर अधिक पापमय अर्थात् दुर्गन्धि युक्त हो जाये वही वसिष्ठ याने श्रेष्ठ होगा ।[३]'

श्रोत्रादि इन्द्रियो मे सप्तर्षि-दृष्टि का विवेचन करते हुए ऋषि बताते है कि, 'ये दोनो नासारन्ध्र ही वसिष्ठ और कश्यप ऋषि है ।[४] अत· एक नासारन्ध्र की सज्ञा वसिष्ठ है । वाणी की सज्ञा भी वसिष्ठ है ।[५]'

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १०२८,१०३०

२ Concordance P 827

३ ते हेमे प्राणा अहॅ् श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचु को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन् व उत्क्रान्त इदॅ् शरीर पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति । बृह उप ६ १.७

४ बृह उप. २ २.४

५. छां उप. ५ १ २; बृह उप ६ १ २

निर्वचन

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग् वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ।[१]

वसिष्ठ शब्द वस् धातु आच्छादने से अथवा वस् धातु निवासे से व्युत्पन्न होता है । वाक् ही वसिष्ठा है ।

वाक् ही वसिष्ठा है, जो इस वाक् अर्थात् वाणी को जानता है, वह स्वजनो मे वसिष्ठ है । वाक् वसिष्ठा क्यो है ? भाष्यकार शकराचार्य इसकी निरुक्ति देते हुए लिखते है कि 'वाक्' अतिशय रूप से बसाती है, अथवा बसती है, **वाग् वै वसिष्ठा । वासयत्यतिशयेन वस्ते वेति वसिष्ठा ।**[२]

अथवा आच्छादनार्थक 'वस्' धातु से 'वसिष्ठा' शब्द निष्पन्न होता है । वाग्मि अर्थात् वाक् चातुर्य से सम्पन्न लोग वाणी से दूसरो का पराभव कर देते है । अत जो इस वाक् को वसिष्ठा के रूप मे जानता है वे भी वसिष्ठ हो जाते है ।

आच्छादनार्थस्य वा वसेर्वसिष्ठा । अभिभवन्ति हि वाचा वाग्मिनोऽन्यान् ।[३] अत वाग्मी-श्रेष्ठ वक्ता ही बसते है । अत वाग् ही वसिष्ठा है ।

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ।[४]

प्राण ही वसिष्ठ है, क्योकि प्राण के शरीर से उत्क्रमण करने पर वह पापिष्ठ याने कि दुर्गन्धमय लगता है ।अत बसने और बसाने के कारण प्राण ही वसिष्ठ है । **वसति च वासयति च इति वसिष्ठः ।**[५] जब प्राण शरीर से निकलने लगते है तो जैसे सिन्धुदेशीय महान् अश्व पैर बॉधने के खूँटो को उखाड डालता है उसी प्रकार प्राण सभी इन्द्रियो को अपने-अपने स्थान से विचलित कर देता है । एतदर्थ सभी इन्द्रियॉ प्राण से कहने लगी कि, 'आप उत्क्रमण न करे, आपके बिना हम जीवित नही रह सकती ' । वागिन्द्रिय ने कहा, 'मै जो वसिष्ठा हूँ अर्थात् मेरा जो वसिष्ठत्व है वह तुम्हारा ही है । तुम ही उस वसिष्ठगुण से युक्त हो' । इसका तात्पर्य यह है कि वाणी प्राण के वसिष्ठत्व के कारण ही 'वसिष्ठ' है । प्राण के कारण ही वाणी वसिष्ठा है । अत प्राण 'वसिष्ठ' है, वसिष्ठत्व गुण के कारण वाणी 'वसिष्ठा' है ।

---

१ वही.

२ बृह उप शा भा ६ १ २

३. वही

४. छां उप ५-१ २

५. बृह उप शा भा ६ १ २

वसु

शाब्दिक अर्थ

वसु शब्द, (न.) वस् धातु + उ, से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — धन-दौलत, रत्न, जवाहर, सुवर्ण, जल, पदार्थ वस्तु, लवण विशेष, एक जडी । (पुल्लिग) वसु एक श्रेणी के देवताओ की सज्ञा है । वसु आठ माने गये हैं उनके नाम है — आप, ध्रुव, सोम, या धव, अनिल, अनल, प्रत्युष और प्रभास । कही-कही पर 'आप' के स्थान पर 'अह' नाम भी मिलता है । आठ की सख्या, कुबेर का नाम, अग्नि का नाम, शिवजी का नाम, एक वृक्ष एक झील या सरोवर , लगाम, किरण, सूर्य ।[१]

उपनिषद् और वसु

प्रमुख उपनिषदो मे 'वसु' शब्द केवल तेरह बार उपलब्ध होता है ।[२] कठोपनिषद् मे ब्रह्म को, गमन करने के कारण 'हस', आकाश मे गमन करने के कारण 'शुचिषत्', सबको व्याप्त करने के कारण 'वसु' कहा गया है । अत वसु ब्रह्म का पर्याय है ।[३] वसु, रुद्र, आदित्य , विश्वदेव और मरुत् ये देवगण गणश है । देवो मे ये देव गणप्राय है जैसे मनुष्यो मे वैश्य होते है । इन देवो के भी एक-एक गण है । अनेक देव मिलकर ही कार्य करते है, अकेले-अकेले नही । वसु आठ की सख्या का गण है , रुद्र ग्यारह तथा आदित्य बारह का गण है । विश्वेदेव तेरह है, मरुद्गण उनचास है ।[४] वसु आठ है । **अष्टौ वसव** ।[५] वसु कौन है ? अग्नि, पृथिवी,

---

१ शब्दार्थ कौस्कतुभ पृ १०३०

२ Concordance P 827

३ हॅ्स शुचिषद्वसु — बृहत् । कठ.उप २ २ २

४ एतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा — । बृह उप १.४१२

५ वही.३९२

वायु, अतरिक्ष, आदित्य द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र — ये वसु है ।[१]

निर्वचन - १

एते वसव एतेषु हीदँ सर्वँ हितमिति तस्माद् वसव इति ।[२]

अग्नि से नक्षत्र पर्यन्त ये सब वसु है । इन्ही मे यह जगत् निहित है इसी से 'वसु' कहलाते है ।

ये वसु प्राणियो के कर्मफल का आश्रय लेकर उनके निवास स्थान देहेन्द्रिय सघात रूप से विपरिणाम को प्राप्त होकर इस सम्पूर्ण जगत् को बसाये हुए है और स्वय भी बसते है, यही उनका वसुत्व है, क्योकि वे दूसरो को अपने मे बसाये हुए है । इसलिये वसु है ।[३]

निर्वचन -२

प्राणा वाव वसव एते हीदँ सर्व वासयन्ति ।[४]

प्राण ही वसु है, क्योकि प्राण ही सबको बसाये हुए है ।छान्दोग्योपनिषद् मे वर्णित है कि वसुगण अग्निप्रधान होकर जीवन धारण करते है ।[५] प्रात सवन वसुओ से सम्बन्धित है ।[६] मानव जीवन के प्रथम चौबीस वर्ष भी प्रात सवन है ।चौबीस अक्षरो वाली गायत्री छन्द है । प्रात सवन गायत्री छन्द से ही सम्बन्धित है । इस प्रात सवन के वसुगण ही देवता है ।[७]

आध्यात्मिक रूप से पिण्ड अर्थात् शरीर मे प्राण ही वसु है । इसका तात्पर्य यह है कि प्राणधारियो मे वाक् आदि इन्द्रियॉ और प्राण वायु ही वसु है । वे ही इस पुरुष आदि प्राणिसमुदाय को वासित किये हुए है । देह मे प्राणो के विद्यमान रहने

---

१. कत मे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्ष चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च । वही ३ ९ ३

२ वही

३ बृह उप शा भा वही.

४ छा उप ३ १६ १

५ तद्यत्प्रथमममृत तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन । छा उप. ३ ६ १

६ ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूना प्रात सवनँ ...। वही २ २४ १

७ पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विँशति वर्षाणि तत्प्रात सवनं चतुर्विँशत्यक्षरा गायत्री गायत्र प्रातः सवन तदस्य वसवोऽन्वायत्ता । वही ३.१६.१

से ही यह सब बसा हुआ है और किसी प्रकार नही । अत देह मे बसने अथवा उसे बसाने के कारण प्राण वसु है ।[1] यह देह श्रोत्र, चक्षु, वाणी, मन एव रेतस् के बिना तो जीवित रह सकती है । परन्तु जब प्राण शरीर से उत्क्रमण करने लगता है तो जैसे सिधुदेशीय महान् अश्व पैर बॉधने के खूटो को उखाड डालता है, उसी प्रकार वह अन्य प्राणो अर्थात् इन्द्रियो को अपने-अपने स्थानो से च्युत कर देता है । प्राण ही इन्द्रियो को शरीर मे बसाये रखता है और स्वय भी देह मे बसता है ।[2] अत प्राण ही वसु है । यही प्राणो का वसुत्व है ।

वसु के औपनिषदिक निर्वचनो से यह ज्ञात होात है कि अग्नि से नक्षत्रपर्यन्त देव वसु है, क्योकि यह जगत उन्ही मे निहित है । यही इन देवो का 'वसुत्व' है ।अधिभौतिक रूप से 'देव' वसु है तो आध्यात्मिक रूप से 'प्राण' वसु है; क्योकि प्राण देह मे स्वय बसते है और इन्द्रियादि प्राणो का शरीर मे बसाये रखते है । प्राणो का यही 'वसुत्व' है ।

---

१ वही

२ प्राणेषु हि देहे वसत्सु सर्वमिदं वसति,नान्यथा,इत्यतो वसनाद्वासनाच्च वसव । छां उप.शा.भा ३ १६ १

वाच्

शाब्दिक अर्थ

वाच् शब्द (स्त्री) उच्यतेऽसौऽनया वा, वच् धातु + क्विप् दीर्घ असम्प्रसारण से निष्पन्न हुआ है । इसके शाब्दिक अर्थ है — शब्द, ध्वनि, वाणी, भाषा, कहावत और सरस्वती का नाम ।[१]

उपनिषद् और वाच्

प्रमुख उपनिषदो मे 'वाच्' शब्द अडतीस से भी अधिक बार[२] उपलब्ध होता है । बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार जो कुछ भी शब्द है, वह वाक् ही है । **यः कश्च शब्दो वागेव सा ।**[३] अर्थात् लोक मे प्राणियो द्वारा मुख मे तालु आदि से व्यक्त होनेवाले जितने भी वर्णादिरूप शब्द याने ध्वनि है तथा वाद्ययन्त्रो या मेघादि के कारण होनेवाले और भी जो कोई शब्द है, वे सब वाक् ही है । दीपकादि की भॉति वाक् भी प्रकाशस्वरूपा है । दीपकादि का प्रकाश किसी अन्य प्रकाश से प्रकाशित नही होता है । वाक् भी स्वय प्रकाशिका है, वह किसी अन्य के द्वारा प्रकाश्या नही है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रकाशकत्व ही वाक् का कार्य है ।[४]

अध्यात्मदर्शन मे — 'अधरा हनु' (नीचे से ठोडी तक या कर्मेन्द्रियॉ) 'पूर्वरूप' है । 'उत्तरा हनु' (ऊपर के होठ से नासिका तक या ज्ञानेन्द्रियॉ) 'उत्तर रूप' है ।'वाक्' (वाणी) 'सधि' है । 'जिह्वा' 'सधान' है ।[५] अत वाणी की अभिव्यक्ति

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १०३३
२ Concordance P 829-833
३ बृह.उप १ ५.३
४ बृह उप शा भा वही
५ अथाध्यात्मम् । अधरा हनु पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् सधि । जिह्वा सधानम् । इत्यध्यात्मम् । तै उप १ ३ ६

'जिह्वा' के द्वारा ही होती है ।मानव शरीर मे वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र और त्वक् कर्मेन्द्रियो का यह एक पचक है ।[१]

ब्रह्माण्ड मे जो अग्नि है वही पिण्ड मे वाणी है ।सृष्टि के आरभ मे अग्नि ने 'वाक्' बनकर मुख मे प्रवेश किया था ।

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् ।[२]

परन्तु यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि वाणी किसके द्वारा प्रेरित होकर बोलती है ? **केनेषितां वाचमिमां वदन्ति ?**[३] वह आत्मा कौन है ? जिसके द्वारा मनुष्य वाणी व्यवहार करती है ? **कोऽयमात्मा येन वाचं व्याकरोति ?**[४]

वह आत्मा वाणी का वाणी है ।[५] जो वाणी मे रहता हुआ भी वाणी से अलग है, जिसे वाणी नही जानती, परन्तु जिसका वाणी ही शरीर है, जो वाणी के भीतर से उसका नियमन कर रहा है यही अतर्यामी आत्मा है, यही अमृत है ।[६] पुरुष का रस-सार वाणी है । **पुरुषस्य वाग्रसो ।**[७] वाणी का रस ऋक् है, ऋक् का रस साम है और साम का रस 'उद्गीथ' है अर्थात् ओम् का उच्चस्वर से गान है ।[८]

वाणी ही 'ऋक्' और प्राण 'साम' है । प्राण और अपान की सधि 'व्यान' है । जो व्यान वायु है वही 'वाक्' है, क्योकि लोग प्राणन और अपानन क्रियाये न करते हुए ही वाणी का उच्चारण करते हैं ।[९] जैसे नसो से समस्त पत्ते व्याप्त रहते हैं वैसे ही ओकार से सम्पूर्ण वाक् व्याप्त है ।[१०] अकार ही सम्पूर्ण वाक् है ।

---

१. वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ् मनश्चक्षु श्रोत्रं च । प्रश्न.उप.२.२

२. ऐत.उप.२.४.

३. केन.उप.१.१.

४. ऐत.उप.३ १.१

५. यद् वाचो ह वाचम् । केन.उप १.२

६. यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत । बृह उप ३.७ १७

७. छां उप.१.१.२

८ वही १.१.५.; वाग्विवृताश्च वेदा । मु.उप.२ १ ४

९. यो व्यान स वाक् । तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति । छां उप १ ३ ३

१० यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक्सतृण्णोङ्कार एवें सर्वम् । वही.२ २३.३

अकारो वै सर्वा वाक्।[१]

वाणी ही 'गायत्री' है। समस्त भूत 'वाक्' है। अर्थात् ये सभी स्थावरजङ्गम प्राणी वाक् है, क्योकि गायत्री तो मात्र एक छन्द है उसका सर्वभूतमय होना तो सम्भव नही है।अत 'वाग्वै गायत्री' कहकर ही श्रुति मे गायत्री की कारणभूत शब्दरूप वाक् को ही गायत्री कहा गया है। तेज का सूक्ष्मतम भाग 'वाक्' है। **योऽणिष्ठः सा वाक्।**[२] जब हम तेज — तैल और घृत खाते है तो वह तीन प्रकार से विभक्त होता है। उसका स्थूलतम भाग 'हड्डी' हो जाता है मध्यम भाग 'मज्जा' हो जाता है और सूक्ष्मतम भाग 'वाक्' हो जाता है।[३]

तेज = घृत + तेल
स्थूलतम अश — अस्थि
मध्यम अश — मज्जा
सूक्ष्मतम अश — वाक्
अत वाक् तेजोमयी है।[४]

वाक् जिह्वामूल आदि आठस्थानो मे स्थित वर्णो को अभिव्यक्त करने वाली इन्द्रिय है। वर्ण ही 'नाम' है। अतः नाम से वाक् उत्कृष्ट है, क्योकि कार्य से कारण की उत्कृष्टता लोक मे भी देखी जाती है। नाम की अपेक्षा वाक् क्यो उत्कृष्ट है, क्योकि वाक् ही ऋग्वेद है। वाणी ही ऋग्वेद को, 'यह ऋग्वेद है' इस प्रकार विज्ञापित करती है। वाक् ही यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वणवेद, पञ्चमवेद, इतिहास-पुराण, वेदो का वेद, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातशास्त्र, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, गरुड, सगीतशास्त्र, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, तेज, देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद (हिस्र जन्तु), कीट-पतग, पिपीलिकापर्यन्त प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य साधु और असाधु, हृदययज्ञ और अहृदयज्ञ जो कुछ भी उसे वाक् ही विज्ञापित करती है। यदि वाणी न होती तो न धर्म का और न अधर्म का ही ज्ञान होता, तथा न सत्य, न असत्य, न साधु, न असाधु, न मनोज्ञ और न अमोनज्ञ का ही ज्ञान सभव था। वाणी ही इन सबका ज्ञान करवाती है।[५] वाक् ही प्रज्ञा है। वह कैसे प्रज्ञा है ?

---

१ ऐ आ २ ३.६

२ तेजोऽशित त्रेधा विधीयते तस्य य स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यम स मज्जा योऽणिष्ठ सा वाक्। छां.उप ६ ५ ३

३ तेजस सोम्याश्मानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्व- समुदीषिति सा वाग्भवति। वही ६ ६ ४

४ तेजोमयी वागिति। वही ६ ५ ४

५ वही ७ २ १

क्योकि वाक् से ही बन्धु पहचाना जाता है। वाणी से ही ऋग्वेदादि, इष्ट-याग, हुत-होम, आशित-अन्नदान जनित धर्म, पायित-जलदान जनित धर्म, यह लोक, यह जन्म, परलोक, आगे प्राप्त होने वाला जन्म और सम्पूर्ण भूत ये सब जाने जाते है। इसलिये वाणी ही पर ब्रह्म है।[१]

वाक् सामगान की प्रतिष्ठा है। वाणी मे प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाया जाता है अर्थात् गीतिभाव को प्राप्त करता है।[२] जितने भी नाम है, उनका प्रकाश 'वाणी' करती है।इसीलिये कहा गया है कि वाणी ही 'ग्रह' है और वह नामरूप 'अतिग्रह' से गृहीत है, क्योकि लोग वाणी से ही नामो का उच्चारण करते है।[३] वाणी ही सब नामो का 'उक्थ' है। इसका तात्पर्य यह है कि वाणी से सब नाम उठते हैं, प्रकाश पाते है। वाणी ही सब नामो का 'साम' है। 'साम' अर्थात समता, याने कि एकता है। अर्थात् वाणी ही सब नामो मे विषमता के स्थान मे समता और एकता स्थापित करती है। वाणी ही इनका 'ब्रह्म' है, क्योकि यह समस्त नामो को अपने अन्दर धारण करती है। नामात्मक जगत् को वाणी सोते से उठाती है। उसमे विषमता होते हुए भी समावस्था लाती है। उसे ब्रह्म की भॉति धारण करती है।[४]

समस्त वेदो का वाक् एक 'अयन' है। अर्थात् प्रलयस्थान है।[५] वाणी ही 'ज्योति' है। कैसे ? जब सूर्य, और चन्द्रमा अस्त हो जाते है और अग्नि शान्त हो जाती है। तब वाणी ही मनुष्य की ज्योति बन जाती है।वर्षाऋतु मे जब समस्त ज्योतियॉ अस्त हो जाती है ' मेघो का घटाटोप अधेरा छा जाता है और हाथ से हाथ भी नही सूझता, तब वाणी ही मनुष्य की ज्योति होती है। जहॉ कही भी वाणी का उच्चारण होता है उसी का अनुसरण करते हुए ही मनुष्य उस ओर चला जाता है। वाणी का अनुसरण कर मनुष्य बोलने वाले व्यक्ति के पास पहुॅच जाता है। उस शब्दरूप ज्योति से श्रोत्र और मन की निरन्तरता बन जाती है। वह अपना कर्म करता है और लौट जाता है।[६]

वाग्धेनु है। वाक् यह शब्द त्रयी (तीन वेद अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) है। इस वाग्धेनु के चार स्तन है।

---

१ बृह .उप.४ १.२

२. तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राण प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः। बृह .उप.१ ३ २७

३ वाग् वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति। वही.३ २ ३

४ वही.१ ६ १

५ सर्वेषां वेदाना वागेकायनम्। वही २ ४.११

६. वही ४ ३ ५.

चार स्तन		वाग्धेनु
१ स्वाहाकार	—	इन्ही से देवो को आहुति दी जाती है ।इसके देवगण उपजीवी है ।
२ वषट्कार	—	स्वाहाकार की भॉति इसके भी देवगण उ-पजीवी है ।
३ हन्ताकार	—	'हन्त·' ऐसा कहकर मनुष्यो को अन्न देते हैं । इसके मनुष्य उपजीवी है ।
४ स्वधाकार	—	'स्वधाकार' के द्वारा पितृगण को स्वधा देते है । इसके पितृगण उपजीवी हैं ।

धेनुरूप वाणी का प्राण 'वृषभ' है, क्योकि प्राण द्वारा ही वाक् प्रसव करती है मन उसका 'वत्स' है क्योकि मन से ही वह प्रस्नवित होती है ।[१] वाक् को ही वसिष्ठा कहा गया है, क्योकि यह अतिशय रूप से बसाती है अथवा बसती है । इसलिये वसिष्ठा है ।[२] वाणी ही ब्रह्म है । ब्रह्म से प्रेरित होकर ही वाणी बोलती है ।इसलिये वाणी से ब्रह्म का ग्रहण नही किया जा सकता है ।[३] वह परमतत्त्व वाक् का भी 'वाक्' है । वह वाणी के द्वारा अनिवर्चनीय है । वाणी उस ब्रह्म तक नही जा सकती । जैसे अग्नि दाहक और प्रकाशक होने पर भी अपने को न तो जलाता है और न प्रकाशित करता है । वैसे ही वाणी भी 'वदन' और 'प्रकाशक' होने पर भी न तो ब्रह्म का वर्णन कर सकती है और न ही उसकी प्रकाशिका है ।[४]

निर्वचन -१

वाक् शब्द,[५] वदन्तो वाचा[६], वाचाभिव्याहृतम्[७], अभिव्याहाराय वाक्[८]

---

१. वही ५८१
२. वही ८ १ २
३. मु उप ३ १ ८
४. कठ उप १ १ [illegible]
५. बृ [illegible]
६. छा उ [illegible]
७. ऐत उ १ ३ [illegible]
८. [illegible]

केनषितां वाचमिमां वदन्ति,[१] यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते[२], वदन् वाक्[३], वाचा हि नामान्यभिवदन्ति[४], वाचं भाषिता,[५] वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याक्षते[६] से निष्पन्न हुआ है ।

उपनिषद् वाड्मय मे वाक् शब्द अभि + वि + आ + हृ धातु, वद् धातु (वद् व्याख्या वाचि) और भाष् धातु (भाष् व्याख्यात वाचि) से निष्पन्न हुआ है ।

निर्वचन- २

वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ।[७]

अर्थात् वाक् ही अत्रि है, क्योकि वागिन्द्रिय द्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है । अत- वाक् ही 'अत्ति' नामवाला है । अर्थात् अत्ता होने के कारण यह 'अत्ति' है । अत्ति होने के कारण ही परोक्ष रूप से 'अत्रि' कहा जाता है । अत वागिन्द्रिय दो कर्म सम्पन्न करती है । वाणी 'वदन्' करने के कारण 'वाक्' है और अन्न का भक्षण करने के कारण 'अत्ति' (अत्रि) है । जिह्वा से ही वाणी सम्पन्न होता है । अत जिह्वा कर्मेन्द्रिय वाणी और ज्ञानेन्द्रिय रसना दोनो है ।

निरुक्तकार के अनुसार वाक् वच् धातु बोलने से निष्पन्न होता है । वाक् कस्मात् ? वचे ।[८]

वाक् के उपर्युक्त औपनिषदिक विवेचन और निर्वचन से 'वाक्' के विशद् स्वरूप एव कार्यो का बोध हो जाता है ।

---

१ केन.उप.१.१.
२ वही.१ ५
३. बृह .उप.१.४.७
४. वही ३.२ ३.
५ वही .६ ४ १८
६ वही.१ ३ ६
७ बृह .उप.२ २ ४
८ नि.२.२३.

वामनी

शाब्दिक अर्थ

वामनी शब्द वाम + नी धातु (नीञ् प्रापणे) से निष्पन्न होता है ।

उपनिषद् और वामनी

प्रमुख उपनिषदो मे 'वामनी' शब्द मात्र एक बार[१] छान्दोग्योपनिषद् मे मिलता है । महर्षि सत्यकाम अग्नियो द्वारा उपदिष्ट अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल को नेत्रस्थ पुरुष के विषय मे उपदेश देते हुए कहते है कि, 'यह जो नेत्र मे पुरुष दिखाई देता है, वह आत्मा है, अमृत है, अभय और ब्रह्म है ।[२] वह चक्षुओ का चक्षु है । **चक्षुषश्चक्षुः** ।[३] वही 'वामनी' है ।

निर्वचन

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति ।[४]

ब्रह्म ही वामनी है । क्यो ? क्योकि 'वाम' शब्द का अर्थ है 'पुण्य कर्म' और 'नि' का अर्थ है, वहन करना । पुण्यकर्मो का वहन करने के कारण ही ब्रह्म 'वामनी' है । यही अपने धर्मरूप से प्राणियो के प्रति उनके पुण्यानुसार सम्पूर्ण वाम याने कि पुण्य कर्मफलो का वहन करता है ।[५]

वामनी शब्द की इस निरुक्ति से ज्ञात होता है कि ब्रह्म ही मनुष्य के पुण्यकर्मो का वहन करने के कारण 'वामनी सज्ञक' हो जाता है । वामनी ब्रह्म का पर्याय है ।

---

१ Concordance P 835

२ छा.उप ४१५१

३ केन उप १ २.

४ छा उप ४.१५ ३

५ एष हि सर्वाणि वामानि पुण्यकर्म फलानि पुण्यानुरूपं प्राणिभ्यो नयति प्रापयति वहति चात्मधर्मत्वेन । छा उप शां भा.वही

विज्ञान

शाब्दिक अर्थ

विज्ञान शब्द (न) वि ज्ञा धातु + लयुट् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — ज्ञान, बुद्धि, प्रतिभा, विवेक निपुणता, शिल्प और शास्त्रादि का ज्ञान । माया या अविद्याा नामक वृत्ति, बौद्धमत के अनुसार आत्मरूप ज्ञान । विशेष रूप से आत्मा का अनुभव ।[१]

उपनिषद् और विज्ञान

प्रमुख उपनिषदो मे 'विज्ञान' शब्द अनेक अर्थो मे लगभग पच्चीस बार[२] प्रयुक्त हुआ है । विज्ञान, अविज्ञान ये शब्द चेतन-अचेतन के लिये उपलब्ध होते है । **विज्ञानं चाविज्ञानं च ।**[३] विज्ञान अर्थात् चेतन और अविज्ञान अर्थात् चेतनता से रहित, पाषाणादि ।[४] इसीलिये 'विज्ञान' को ब्रह्म की सज्ञा दी गई । विज्ञान ब्रह्म से ही ये जीव उत्पन्न होते है, उत्पन्न होने पर विज्ञान से ही जीवित रहते है और मरणोन्मुख होकर विज्ञान मे ही प्रविष्ट हो जाते है ।[५]

विज्ञान का अर्थ विशिष्ट ज्ञान, साक्षात्कार[६] भी है । इस परमतत्त्व का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने हेतु साधक ब्रह्मनिष्ठ गुरु के सन्निध्य मे निवास करता है । वह गुहा मे छिपा हुआ है, वह विज्ञान से परे है । सत्-असत् दोनो से वरेण्य है और प्रजाओ

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ.१०५६

२ Concordance 847-48

३ तै उप.२ ६ १

४ विज्ञान चेतनमविज्ञानं तद्रहितमचेतन पाषाणादि । शा भा वही.

५ विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । तै.उप ३ ५.१, बृह.उप ३ ९ २०,

६ तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि : श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम् । मु उप १ २ १२

मे वह सर्वोत्कृष्ट है ।[१] जो विद्वान् विज्ञानवान् सारथी से युक्त होता है अर्थात् जिसकी बुद्धि विवेकसम्पन्न है और जो मनोनिग्रहवान् है वह परम पद को प्राप्त करता है ।[२] विवेकी पुरुष विज्ञान — विशिष्ट ज्ञान द्वारा आनन्दस्वरूप अमृत ब्रह्म का साक्षात्कार करते है ।[३] आत्मा के दर्शन श्रवण, मनन एव विज्ञान से इस सबका ज्ञान होता है ।

मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व विदितम् ।[४]

सज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, अन्त करण की वृत्ति है ।[५] आत्मा अन्तर्यामी अमृत विज्ञान मे रहने वाला है, विज्ञान के भीतर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है और यही भीतर रहकर विज्ञान का नियमन करता है । इसका तात्पर्य यह है कि विज्ञान स्वय कार्य नही कर सकता ।[६] आत्मा ही विज्ञान के भीतर रहकर उसका नियमन करता है। विज्ञान — विज्ञप्ति है। अत विज्ञान ही आनन्दब्रह्म है ।**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।**[७] अत उपनिषदो मे विज्ञान विवेकपूर्ण बुद्धि, विशिष्ट ज्ञान, साक्षात्कार का साधन, अन्त करण की वृत्ति और ब्रह्म का द्योतक है ।

निर्वचन -१

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन्सत्यं वदति विजान्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति ।[८]

अर्थात् जिस समय पुरुष सत्य को विशेष रूप से जानता है तभी वह सत्य बोलता है बिना जाने सत्य नही बोलता, अपितु विशेष रूप से जानने वाला ही सत्य का कथन करता है । अत विज्ञान ही विशेष रूप से जानने योग्य है ।

---

१ सदसद्वरेण्य पर विज्ञानद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् वही. २.२.१

२. विज्ञानसारथीर्यस्तु मन प्रग्रहवान्नर ,पर पदम् । कठ उप. १ ३ ९

३ तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यद्विभाति । वही २.२ ७

४ बृह उप. २ ४ ५

५ यदेतद्धृदय मनश्चैतत् । सज्ञानमाज्ञान विज्ञानं प्रज्ञान ....। ऐत उप ३ ५ ३ १ २

६ यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो य विज्ञान न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः । बृह उप. ३ ७ २२

७ वही ३ ९ २८

८ छां उप ७ १ ७ १

निर्वचन - २

विज्ञानेनैव विजानाति।[१] विज्ञान से ही मनुष्य जानता है। अत उपर्युक्त विवेचन से विज्ञान के विविध रूपो का ज्ञान होता है। विज्ञान के औपनिषदिक निर्वचन भी ज्ञा धातु से निष्पन्न होते है।

---

१. वही.७.७.१.

विदृति

शाब्दिक अर्थ

विदृति शब्द का अर्थ है — ब्रह्मरन्ध्र । यह शब्द वि + दृ धातु विदारणे से निष्पन्न हुआ है ।

उपनिषद् और विदृति

'विदृति' शब्द केवल एक बार[१] ऐतरेयोपनिषद् में उपलब्ध होता है । सृष्टि के आरभ मे विधाता ने देवो की सृष्टि की और उन्हे क्षुधा —पिपासा से सयुक्त कर दिया । तब उन्होने जगद्रचयिता से कहा कि, 'हमारे लिये कोई आश्रयस्थान (आयतन) की व्यवस्था कीजिये जिसमे प्रतिष्ठित होकर हम अन्न भक्षण कर सके ।'[२] देवताओ की बात सुनकर विधाता ने सर्वप्रथम 'गौ' और तदुपरान्त 'अश्व' के शरीर की रचना करके उनके लिए आश्रयस्थान प्रस्तुत किया । परन्तु देवो ने इन दोनो आश्रयस्थानो को अपने लिये उपयुक्त न समझा । **अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ।**[३]

परमेश्वर ने तब सर्वसुन्दर, सर्वश्रेष्ठ 'पुरुष' स्वरूप की रचना की । उस पुरुष को देखते ही देव कह उठे, 'यह पुरुष शरीर सुकृत है' अर्थात् पुरुष ही शोभन-सुन्दर सृष्टि है ।

पुरुषो वावा सुकृतम्[४]

---

१ Concordance P 861

२ ऐतरेयोपनिषद् १.२.१.

३ वही १ २ २

४ ताभ्य पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृत बतेति । पुरुषो वाव सुकृतम् । ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति । वही १.२ ३.

देवो ने पुरुष शरीर को अपना आश्रयस्थान बनाया और अपने-अपने आयतन मे प्रवेश किया।

देव	इन्द्रिय	आयतन
अग्नि	वाक्	मुख
वायु	प्राण	नासिका
आदित्य	चक्षु	अक्षिणी[१]
दिशा	श्रोत्र	कर्ण
ओषधि + वनस्पति	लोम	त्वचा
चन्द्रमा	मन	हृदय
मृत्यु	अपान	नाभि
आप्	रेतस	शिश्न (लिङ्ग)[२]

स्वय सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर ने मूर्द्धद्वार से शरीर मे प्रवेश किया। उसने इस मूर्धसीमा को ही, जिसका केशों का विभाग ही अवसान है, विदीर्ण कर अर्थात् उसमे छिद्र कर, उस मार्ग से भूत ओर इन्द्रियो के सघात रूप इस देह मे प्रवेश किया।

निर्वचन

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वारस्तदेतन्नान्दनम्।[३]

अर्थात् 'विदृति' का अर्थ है 'विदारण' — फाडना। ये दोनो कपाल अलग-अलग है, फटे हुए हैं। विदीर्ण किये जाने के कारण वह द्वार 'विदृति', नाम से प्रसिद्ध है।

सैषा विद्रुतिर्विदारित्वाद्विदृतिर्नाम प्रसिद्धा।[४]

शरीर मे जब जीवात्मा इस स्थान मे रहता है, तब उसे परम आनन्द प्राप्त होता है। इसलिये इस स्थान को 'नान्दन' भी कहते है। जीवनकाल मे जब 'नान्दन'-स्थान मे जीवात्मा का वास और मृत्यु के समय जब नान्दन-स्थान मे आकर

---

१. वही.१.२.४.
२. वही.
३. वही.१.३.१२.
४. वही.शां भा.

जीवात्मा विदृति मार्ग से निर्गमन करता है तभी वह मोक्ष प्राप्त करता है । इसीलिये इसे 'नान्दन' सज्ञा दी गई है ।

विदृति शब्द की इस औपनिषदिक निरुक्ति से ज्ञात हो जाता है कि परमतत्त्व चेतनतत्त्व के बिना शरीर रूपी रथ में गति सम्भव नही है । परमतत्त्व शरीर की रचना कर स्वयं उसमें 'विदृति' संज्ञक द्वार से प्रविष्ट होकर शरीर को गतिशील बनाता है । जब साधक के प्राण इसी 'विदृति द्वार' से निष्क्रमण करते हैं, तभी वह 'नान्दन' स्थिति को प्राप्त करता है । अतः इस संसरणशील जगत् से तब वह मुक्त हो 'नान्दन' हो जाता है ।

विद्युत्

शाब्दिक अर्थ

विद्युत् शब्द (स्त्री.) विशेषेण द्योतते, वि द्युत् धातु + क्विप् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ हैं — बिजली, वज्र, सध्या । एक प्रकार की वीणा । एक प्रकार की उल्का । प्रजापति बाहुपुत्र की चार कन्याये ।[१]

उपनिषद् और विद्युत्

प्रमुख उपनिषदो मे 'विद्युत्' शब्द लगभग पच्चीस बार[२] मिलता है । छान्दोग्योपनिषद् मे ब्रह्म के चतुष्कलपाद वर्णित किये गये हैं । (१) प्रकाशवान्नाम । (२) अनन्तवान्नाम । (३) ज्योतिष्मान्नाम । (४) आयतनवान्नाम ।[३] चतुष्कल ब्रह्म के तृतीय पाद 'ज्योतिष्मान्नाम' मे अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् को परिगणित किया गया है क्योकि ये सभी ज्योतिष्मान् हैं । अर्थात् दीप्ति से युक्त हैं ।

अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ।[४]

आकाश में ही सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, नक्षत्र और अग्नि स्थित है ।[५] वायु अशरीरी है, अभ्र (बादल) विद्युत् और मेघध्वनि भी अशरीरी हैं । ये सभी आकाशदेश से समुत्थान करते हैं । कैसे समुत्थान करते हैं ? शिशिर ऋतु का अन्त होने पर सूर्य

---

१. शब्दार्थ कौस्तुभ.पृ.१०६१

२. Concordance P 863

३. छा.उप.४५.२,४६ ३;४७ ३;४८३

४. वही.४७.३;४८ ३.

५. आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोति— । छां.उप ७.१२.१

के परम तेज ग्रीष्मकालीन प्रकृष्ट तेज को उपसम्पन्न हो उस आदित्य के अभिताप से विभिन्नभाव को प्राप्त होकर अपने-अपने स्वरूप से सम्पन्न हो जाते है । उनमे वायु, पूर्ववायु आदि अपने रूपो से, बादल आर्द्रभाव को त्यागकर भूमि, पर्वत एव हाथी के समान आकारो से, विद्युत् ज्योतिर्लता आदि अपने चपल रूप से, मेघध्वनि गर्जन तथा वज्रपात आदि अपने रूप से स्थित हो जाते है और वर्षाकाल आने पर ये सभी अपने-अपने रूप से निष्पन्न हो जाते है ।[१]

छान्दोग्योपनिषद् मे महर्षि सनत्कुमार देवर्षि नारद का उपदिष्ट करते हुए बताते है कि, 'तेज जल का कारण है । तेज जिस समय वायु को निश्चल कर आकाश को सब ओर से तपाता है, उस समय लोक मे पुरुष कह उठते है — गर्मी हो रही है, बडा ताप है, वर्षा होगी' । इस प्रकार तेज ही पहले अपने को उद्‌भूत हुआ दिखलाकर जल की सृष्टि करता है । यह तेज ही वर्षा का कारण है । जब उर्ध्वगामी और तिर्यग्गामी (तिरछी चलने वाली) विद्युत् अर्थात् बिजलियो के साथ गडगडाहट की गर्जनाये फैल जाती है तब यह सब देखकर लोग कह उठते है, 'बिजली चमक रही है, बादल गरजता है, वर्षा होगी ।'

निर्वचन -१

तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्लादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते ।[२]

अत· चमकने के कारण ही 'विद्युत्' बिजली है । जब आकाश मे मेघ छा जाते है तो तिरछी बिजलियॉ चमक उठती है । जब बादल गर्जते है, बिजली चमकती है तो वर्षा अवश्य होती है ।

निर्वचन- २

विद्युद् ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद् विद्युद् विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद् ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ।[३]

---

१ अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय पर ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते । वही.८ १२ २

२ छा उप ७.११ १

३ बृह उप.५ ७ १.

विद्युत् ही ब्रह्म है ।विद्युत् अन्धकार के 'विदान' अर्थात् खण्डन के कारण विद्युत् है, क्योकि यह मेघ को विदीर्ण करके प्रकाशित होती है । इसलिये विद्युत् है । ऐसे गुणवाले विद्युत् ब्रह्म को जो जानता है, वह पाप को विद्यति-खण्डित अर्थात् नष्ट कर देता है ।[1] अत विद्युत् अधकार का विदारण करती है और विद्युत्-ब्रह्म पापो का विदारण कर देता है । अत गुण की साम्यता होने के कारण ही ब्रह्म को 'विद्युत्' कहा गया है । विद्युत् ब्रह्म का पर्याय है ।

निर्वचन -३

विद्युतो व्यद्युतद् ।[2]

आकाश मे चमकने के कारण ही 'विद्युत्' कही जातीहै । जैसे बिजली सघन अन्धकार को विदीर्ण करके सब ओर प्रकाशित होती है वैसे ही ब्रह्म देवताओ के सामने सब ओर प्रकाश से युक्त होकर प्रकट होता है । ब्रह्म का अभिव्यक्त होना बिजली की चमव के समान है ।[3] उपर्युक्त निरुक्तियो से ज्ञात हो जाता है कि अधकार को विदीर्ण कर आकाश मे देदीप्यमान होकर चमकने के कारण ही वह विद्युत् है जो वर्षा की सूचिका भी है ।

---

१ विद्युतो ब्रह्मणो निर्वचनमुच्यते — विदानादवखण्डनात् तमसो मेघान्धकारं विदार्य ह्यवभासतेऽतो विद्युत् । एवं गुण विद्युद् ब्रह्मेति यो वेदासौ विद्यत्यवखण्डयति विनाशयाति पाप्मन एनमात्मान प्रति प्रतिकूलभूत पाप्मनो ये तान् सर्वान् पाप्मनोऽवखण्डयतीत्यर्थ । बृह.उप.शां.भा वही

२ केन.उप ४४.

३. विद्युतो विद्योतनं यथा यदेतद्ब्रह्म देवानां पुरतः प्रकाशवद्व्यक्तीभूतमतो व्यद्युतदिवेत्युपास्यम् । केन उप शां.भा.४.४

श्रद्धा

शाब्दिक अर्थ

श्रद्धा शब्द (स्त्री.) श्रत् + धा धातु + अङ् + टाप् से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ हैं — विश्वास एक प्रकार की मनोवृत्ति, जिसमे किसी बडे या पूज्य व्यक्ति के प्रति भक्तिपूर्वक विश्वास के साथ उच्च और पूज्य भाव उत्पन्न होता है। वेदादि शास्त्रो और आप्तवाक्यो मे विश्वास, शुद्धि, सम्मान, प्रतिष्ठा और प्रजापति की पुत्री का नाम।[1]

उपनिषद् और श्रद्धा

प्रमुख उपनिषदो में 'श्रद्धा' शब्द लगभग अट्ठारह बार[2] मिलता है। श्रद्धा का अर्थ विश्वास है। **श्रद्धत्स्व सोम्यति।**[3] महर्षि उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश नौ उद्धरणो के द्वारा देते है। एक सदर्भ मे वे कहते है कि, 'हे सोम्य ! यह सामने जो वटवृक्ष है, इसके फल को तू ले आ।' श्वेतकेतु फल ले आता है। पुन· आदेश देते है कि 'इसे फोडो'। वह फोड देता है।फल को फोड़ देने पर आरुणि पूछते हैं कि, 'तुम इसमे क्या देखते हो ?' श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि, 'भगवन् ! इसमें अणु के समान छोटे-छोटे दाने दिखाई देते हैं। ऋषि कहते कि, 'इनमे से एक को फोड दो'।श्वेतकेतु ने कहा 'भगवन् फोड दिया।' महर्षि आरुणि पुन· पूछते हैं कि 'अब तुम इसमे क्या देखते हो ?' श्वेतकेतु विनम्रतापूर्वक उत्तर देता है कि, 'मैं कुछ भी नही देखता हूँ।' आरुणि ने तब उससे कहा, 'हे सोम्य ! इस वटबीज की दिखाई न देने वाली इस सूक्ष्म अणिमा से ही यह मोटी-मोटी शाखाओ वाला, स्कन्ध, फल और पत्तो से युक्त महान् वृक्ष उत्पन्न

---

१. शब्दार्थ कौस्तुभ-पृ.११७५

२. Concordance. P. 931

३. छां.उप. ६.१२.२; कठ उप.१.१ १३

होता है । मेरे इस कथन पर, हे सोम्य 'तू श्रद्धा कर' । अतः श्रद्धा का अर्थ विश्वास ही है ।[१]

श्रद्धा-अश्रद्धा ये सब अन्तः करण की वृत्तियाँ हैं ।[२] यज्ञ दक्षिणा में प्रतिष्ठित है तो दक्षिणा श्रद्धा में । शकराचार्य के अभिमत मे श्रद्धा का अभिप्राय है, देने की इच्छा अर्थात् भक्तिसहित आस्तिक्यबुद्धि । परन्तु प्रश्न होता है कि श्रद्धा में दक्षिणा कैसे प्रतिष्ठित है ? क्योंकि जब पुरुष श्रद्धावान् होता है तभी दक्षिणा देता है अन्यथा नही । श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है ? हृदय में । श्रद्धा हृदय की वृत्ति है । हृदय से ही पुरुष श्रद्धा का अनुभव करता है ।[३] जो जीव श्रोत्रिय हो ब्रह्मनिष्ठ हो और साथ ही श्रद्धावान् हो उसे ही ब्रह्म-विद्या का ज्ञान प्रदान करना चाहिये ।

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वँ श्रद्दधानाय मह्यम् ।[४]

ब्रह्म का चतुर्थ पद 'तुरीय' है; जिसे 'दर्शत' और 'परोरजा' भी कहा गया है । वह तुरीय पद सत्य में प्रतिष्ठित है । वह सत्य क्या है ? चक्षु ही सत्य है ।'चक्षुर्वै सत्यम्' । चक्षु को सत्य क्यों कहा गया है ? जब किसी व्यक्ति के पास दो व्यक्ति परस्पर विरुद्ध वार्तालाप करते हुए आयें और उनमें से एक यह कहे कि 'मैंने ऐसा देखा है' और दूसरा कहे कि 'मैंने ऐसा सुना है तुमने जैसी देखी है, वह वस्तु वैसी नही है,' तो उनमें से जो यह कहेगा कि 'मैंने उसे देखा है' हम उसी का विश्वास करेंगे, जो ऐसा कहता है कि 'मैंने सुना है' उसका विश्वास नही करेंगे । सुनने वाले का श्रवण तो मिथ्या हो सकता है, किन्तु नेत्रों को मिथ्या दर्शन नही हो सकता । अतः जो व्यक्ति यह कहता है कि मैंने सुना है तो उसमें हमारी श्रद्धा नहीं होती । अतः आँखो से देखने वाले व्यक्ति की बातों पर ही हमारी श्रद्धा याने कि विश्वास होता है ।[५]

---

१. बृह.उप.१.५.३

२. श्रद्धा नाम दित्सुत्वम् आस्तिकयबुद्धि भक्ति सहिता । बृह.उप.शां.भा.३.९.२१

३ कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाँ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवति । बृह.उप.३.९.२१

४. कठ.उप.१.१.१३;मुं.उप ३.२.१०

५. बृह.उप.५.१४.४

निर्वचन

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति । श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ।[1]

अर्थात् जब मनुष्य श्रद्धा करता है तभी मनन करता है । बिना श्रद्धा के कोई मनन नही करता । श्रद्धा को विशेष रूप से जानना चाहिये । जब पुरुष की 'निष्ठा' होती है तभी वह श्रद्धा करता है, बिना निष्ठा के कोई भी श्रद्धा नही करता अपितु निष्ठा करनेवाला हो श्रद्धा करता है ।[2]

उपर्युक्त विवेचन और निर्वचन से श्रद्धा के स्वरूप का बोध होता है ।

---

१. छां उप ७ १९.१

२ यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा__ । वही.७ २० १

श्रोत्र

शाब्दिक अर्थ

श्रोत्र शब्द (न) श्रु धातु + ष्ट्र से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है— कान, वेद, वेदज्ञान ।[१]

उपनिषद् और श्रोत्र

प्रमुख उपनिषदो मे 'श्रोत्र' शब्द लगभग तिरयालीस बार मिलता है ।[२] ऐतरेयोनिषद् मे वर्णित है कि मानव शरीर विधाता की सर्वसुन्दर सृष्टि है, सुकृत है । देवताओ ने ही इन्द्रियो के रूप मे शरीर के विभिन्न अङ्गो मे प्रवेश किया । दिशाओ ने श्रवणेन्द्रिय के रूप मे श्रोत्र अर्थात् कानो मे प्रवेश किया ।

दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन् ।[३]

परन्तु कानो मे स्थित यह श्रोत्रेन्द्रिय स्वयं कार्य करने मे असमर्थ रही । यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, 'यह किससे प्रेरित होकर सुनती है ?[४]' श्रवणेन्द्रिय आत्मा से प्रेरित होकर क्रियाशील होती है । कैसे ? जिससे प्राणी सुनते है, उसे 'श्रोत्र' कहते हैं । श्रोत्र का, 'श्रोत्रत्व' है शब्द को प्रकाशित करना है । श्रोत्र मे शब्द उपलब्ध तो हो जाता है परन्तु उस उपलब्ध हुए शब्द को वह प्रकाशित नही कर सकता, क्योकि वह अचेतन है । आत्मा चेतना स्वरूप है ।यही श्रोत्र का श्रोत्र[५] है । आत्मा अर्थात् चेतनतत्त्व ही शब्द को प्रकाशित करता है ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ.११८०

२ Concordance P 937-38

३ ऐत उप १ २ ४;मु उप २ १ ४.

४ केनेषिता वाचमिमा वदन्ति चक्षु श्रोत्र क उ देवो युनक्ति । केन.उप १ १

५ श्रोत्रस्य श्रोत्रम् । वही,बृह उप ४४१८

चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक् और त्वचा ये पॉच कर्मेन्द्रियॉ है ।[१] सासारिक भोग-विषयो की उपलब्धि के ये पॉच द्वार है ।[२] शरीर मे श्रोत्र के न रहने पर मनुष्य बहरे व्यक्ति की तरह जीवित रह सकता है[३], परन्तु प्राण के शरीर से उत्क्रमण करने पर जीव का जीवित रहना असम्भव है । अत श्रोत्रादि कर्मेन्द्रियॉ प्राण द्वारा व्याप्त है । प्राण से अनुप्राणित होकर ही वे क्रियाशील होती है ।[४] समस्त शब्दो का श्रोत्र ही एक अयन है — आश्रय है ।[५] इसीलिये श्रोत्र ही 'ग्रह' है और वह शब्द रूप 'अतिग्रह' से गृहीत है, क्योकि प्राणी श्रोत्र से ही शब्दो को सुनाता है[६] । श्रोत्र ही 'सम्पत्' है । क्योकि श्रोत्र से ही समस्त वेद और उनके अर्थ विशेष रूप से ग्रहण किये जाते है । जब मनुष्य उस शास्त्रोक्तज्ञान के अनुरूप कर्म अर्थात् याज्ञिक अनुष्ठान करता है तो उसे सासारिक कामनाओ याने कि भोगो की प्राप्ति होती है । इसीलिये श्रोत्र को 'सम्पत्' — विभूति कहा गया है ।[७]

छादोग्योपनिषद् मे वर्णित है कि, 'एक बार प्रजापति के पुत्र देव और असुर किसी कारणवश परस्पर युद्ध करने लगे । देवताओ ने सोचा कि, 'हम उद्गीथ (ओङ्कार) का अनुष्ठान करअसुरो को पराजित करेगे । उन्होने श्रोत्र के रूप मे उद्गीथ की उपासना की' । असुरो ने उसे पाप से बीध दिया । असुरो के द्वारा पाप से बीधने के पूर्व श्रोत्र श्रवणीय बाते ही सुनते थे । उनके द्वारा बीधने पर श्रोत्र दूषित हो गये । अब श्रोत्र श्रवणीय और अश्रवणीय दोनो बाते सुनने लगे; क्योकि श्रोत्रेन्द्रिय को पाप से बीध दिया गया था । इसी प्रकार असुरो ने मुख्य प्राण (मुख मे स्थित प्राण) के अतिरिक्त समस्त इन्द्रियो को पाप से बीध दिया ।[८] चतुष्पाद् ब्रह्म का एक पाद आध्यात्मिक रूप से 'श्रोत्र' और आधिदैविक रूप से 'दिशाये' कहा गया है । 'श्रोत्र पाद' ।[९]

---

१ चक्षु श्रोत्र मनो वाक् त्वक् चर्म ...। तै उप १ ७ १ प्रश्न उप २ २

२ तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्न प्राण चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । वही ३.१ १

३ छां उप ५ १.१० ; बृह .उप. ६.१.१०

४ प्रश्न.उप २ २ १२.

५ सर्वेषा शब्दाना श्रोत्रमेकायनमेव । बृह उप २ ४ ११

६ श्रोत्रं वै ग्रह- स शब्देनातिग्राहेण गृहीत श्रोत्रेण हि शब्दाञ्शृणोति । वही ३.२.६

७ श्रोत्रं वाव सम्पत् छा.उप.५ १.४, बृह .उप. ६.१.४

८ छां उप १ २ ५.

९. वही ३ १८ २

निर्वचन

श्रोत्र शब्द, **श्रृण्वञ्श्रोत्रम्**[1] **श्रोत्रेण श्रृणोति**[2], **श्रृण्वन्तः श्रोत्रेण**[3] **श्रोत्रं च श्रोतव्यं च**[4], **श्रोत्रेण हि शब्दान् श्रृणोति**[5] **श्रवणाय श्रोत्रम्**[6] **श्रोत्रं देव श्रोत्रेण हि तच्छृणोनति**[7] श्रु धातु श्रवणे से निष्पन्न होता है ।[8] अर्न्तयामी अमृत आत्मा श्रोत्र मे रहने वाला श्रोत्र के भीतर है ।जिसे नही जानता, श्रोत्र जिसका शरीर है, और जो भीतर रहकर उसका नियमन करता है । इसका तात्पर्य यह है कि श्रोत्र स्वय सुनने का कार्य नही करता है अपितु आत्मा के द्वारा ही वह सुनता है ।

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यॅ श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रॅ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।[9]

परमपुरुष परमात्मा ने अन्न की रचना लोकापालो के आहारार्थ की थी । परन्तु अन्न ने उनकी ओर से मुॅह फेर लिया और भागना चाहा । तब पुरुष ने वागिन्द्रिय से, प्राण से, चक्षु से और फिर श्रोत्र से अन्न को ग्रहण करना चाहा ।परन्तु वह ग्रहण करने मे समर्थ नही हुआ, क्योकि यदि ऐसा हो जाता तो है पुरुष प्राणनक्रिया करने से ही तृप्त हो जाता । इतना ही नही अन्न को ऑख से देखकर ओर उसके विषय मे श्रोत्र से सुनकर ही तृप्त हो जाता । अत वह इन सभी इन्द्रियो के द्वारा अन्न को ग्रहण करने मे समर्थ नहीं हुआ ।

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनच्छ्रोत्रेणा-ग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ।[10]

उपर्युक्त विवेचन और निर्वचन से श्रोत्र एव श्रोत्रेन्द्रिय के स्वरूप एव निरुक्ति का बोध होता है ।

---

१ बृह उप १४७
२ वही १४१७
३ बृह उप ५१९-११
४ प्रश्न ३
५ बृह उप ३२६
६ छा.उप ८.१२४
७ बृह.उप १४.१७
८ वही ३७२३
९ वही ३७३
१० ऐत.उप १३.६

संयद्वाम

शाब्दिक अर्थ

सयद्वाम शब्द सम् + ई (इण् गतौ) धातु +वाम से निष्पन्न होता है ।

उपनिषद् और संयद्वाम

प्रमुख उपनिषदो मे 'सयद्वाम' शब्द मात्र एक बार[१] छान्दोग्योपनिषद् मे उपलब्ध होता है । महर्षि सत्यकाम उपकोसल कामलायन को अक्षिपुरुष[२] के विषय मे उपदेश देते हुए कहते है कि, 'अक्षि पुरुष ही आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है और यह ब्रह्म है ।' यही 'सयद्वाम' है ।[३]

निर्वचन

एतॅ् संयद्वाम इत्याचक्षत एतॅ् हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति ।[४]

ब्रह्म ही सयद्वाम है, क्योकि सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुये सब ओर से इसे ही प्राप्त होती है ।अर्थात् सम्पूर्ण वाम-वननीय-सम्भजनीय अर्थात् शोभन पदार्थ सब ओर से इसे ही प्राप्त होते है । इसलिये यह सयद्वाम है ।[५]

सयद्वाम की इस निरुक्ति से ज्ञात होता है कि ब्रह्म ही सयद्वाम है । सयद्वाम ब्रह्म का पर्याय है ।

---

१ Concordance P 943

२ छा उप ४१५१

३ वही ४१५२

४ वही

५ पुरुष संयद्वाम इत्याचक्षते । कस्मात् ? यस्मादेत सर्वाणि वामानि वननीयानि सभजनीयानि शोभनान्यभिसयन्त्यभिसगच्छन्ती सयद्वाम । छा उप. शां भा. ४.१५२

संहिता

शाब्दिक अर्थ

सहिता शब्द (स्त्री) सहित + टाप् वा सम्यक् हित प्रतिपाद्य यस्याः ब स. से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — सयोग, मेल, सग्रह । वह ग्रन्थ जिसमे पद-पाठ आदि का क्रम नियमानुसार हो । धर्मशास्त्र, स्मृति, वेदो का मन्त्र भाग और जगत् को सघटित करने वाली शक्ति ।[१]

उपनिषद् और संहिता

प्रमुख उपनिषदो मे सहिता शब्द मात्र एक बार[२] तैत्तिरीयोपनिषद् की शीक्षावल्ली मे उपलब्ध होता है। इस उपनिषद् मे पॉच अधिकरणो मे सहितासम्बन्धिनी उपासना का वर्णन है । ये पॉच अधिकरण है — अधिलोक, अधिज्यौतिष्, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म । इन पॉच अधिकरणो को महासॅहिता भी कहते है ।

पॉच संहिता

महा सहिता	पूर्वरूप	उत्तररूप	सधि	सधान
१ अधिलोक	पृथिवी	द्यौ	आकाश	वायु
२ अधिज्यौतिषम्	अग्नि	आदित्य	आप	विद्युत्
३ अधिविद्यम्	आचार्य	अन्तेवासी	विद्या	प्रवचन
४ अधिप्रजम्	माता	पिता	प्रजा	प्रजनन
५ अध्यात्मम्	अधरा हनु	उत्तरहनु	वाक्सधि	जिह्वा[३]

---

१. शब्दार्थ कौस्तुभ. पृ ११९७

२. Concordance P 950

३. तै.उप.१.१-३

निर्वचन

इतीमा महास ँहिता य एवमेता महास ँहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।[१]

अर्थात् ये पॉच महासहिताये है। जो पुरुष इस प्रकार व्याख्या की हुई इन महासहिताओ को जानता है (अर्थात्) इस प्रकार उपासना करता है। वह प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न और स्वर्गलोक से सयुक्त हो जाता है। अत सहिता शब्द सम् + धा धातु के सयोग से बना है।

---

१ वही ७

सत्य

शाब्दिक अर्थ

सत्य शब्द, सते हितम्, सत् + यत् से निष्पन्न हुआ है । इसके शाब्दिक अर्थ है — यथार्थ, सच्चा पुण्यात्मा, पारमार्थिक सत्ता, नेकी, पुण्य, शपथ, कृतयुग, चार युगो मे से पहला युग ।[१]

उपनिषद् और सत्य

प्रमुख उपनिषदो मे 'सत्य' शब्द लगभग पद्रह बार[२] मिलता है ।**सत्यमेव जयते नानृतम्**[३] ।औपनिषदिक ऋषियो का यह उद्घोष है । सत्य ब्रह्म है, सत्य ही ब्रह्म है । **सत्य ब्रह्मेति सत्यॅ् ह्येव ब्रह्म** ।[४] ऐसा माना जाता है कि सृष्टि के आरम्भ मे 'आप्' (जल) ही था । अव्यक्त प्रकृति ही सर्वत्र व्याप्त हो रही थी । प्रकृति जब अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था मे आने लगी तभी 'सत्य' प्रकट हुआ । इसका तात्पर्य यह हुआ कि अव्यक्तावस्था मे सत्य अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है और व्यक्तावस्था मे व्यक्त रूप से प्रकट होता है । सत्य के अभिव्यक्त होने पर ही 'ब्रह्म' प्रकट हुआ । इस सत्य की देवगण भी उपासना करते है ।[५]

निर्वचन

तदेतत् त्र्यक्षरंॅ् सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतॅ् ।[६]

---

१. शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १२०९

२ Concordance P 958-9

३ मु.उप ३ १ ६

४ बृह उप.५ ४.१.

५ आप एवेदमग्र आसुस्ता आप सत्यमसृजन्त सत्य ब्रह्म — ते देवा सत्यमेवोपासते । वही ५ ५ १

६. वही.

'सत्य' शब्द तीन अक्षरो से बना है ।

(१) 'स' — यह पहला अक्षर है । यह 'सस्वर' अक्षर है ।

(२) 'ती' — यह दूसरा अक्षर है । इसमे 'ईकार' स्पष्ट उच्चारण के लिये ही है । इसमे स्वर नही है । यह स्वरहीन है ।

(३) 'यम्' — यह तीसरा अक्षर है । इसमे भी 'स्वर'है । अत प्रथम अक्षर 'स' और अतिम अक्षर 'य' दोनो सस्वर है । सत्यम् 'स' और 'यम्' ये दोनो अक्षर सत्य है क्योकि उनमे मृत्यु का अभाव है । मध्य मे जो 'ती' है वह अनृत है । अनृत मृत्यु है, क्योकि मृत्यु और अनृत मे 'तकार' की समानता है । यह मृत्युरुपी अनृत 'तकार' अक्षर दोनो ओर के 'सकार' और 'यकार' रूप सत्य से परिगृहीत है । अर्थात् व्याप्त है । इसका तात्पर्य यह है कि 'तकार' सत्यरूप अक्षरो से अन्तर्भावित है ।

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति ।[1]

छान्दोग्योपनिषद् मे सत्य का निर्वचन करते हुए यह वर्णित किया गया है कि 'सत्य' मे जो 'सकार' है वह 'अमृत है, जो तकार' है वह मर्त्य' है और जो 'यम्' है उससे वह दोनो का नियमन करता है । भाष्यकार शकराचार्य के अभिमत मे, 'जो 'सत्' यानि सकार है वह अमृत है । सद् ब्रह्म है । अमृत का वाचक होने के कारण अमृतरूप सकार का ही 'तकारान्त' निर्देश किया गया है । तथा जो 'ति' यानि तकार है वह मर्त्य है और जो 'यम्' अक्षर है उस अक्षर से अमृत और मर्त्यसज्ञक पहले दो अक्षरो का प्रयोग करनेवाला उनका नियमन करता है । 'यम्' अक्षर दोनो का नियमन करता है ।[2]

कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् मे मृत्यूपरात जीव की गति का वर्णन करते हुए बताया गया है कि जब जीव ब्रह्मलोक मे पहुँचता है तब वह ब्रह्म से एकाकार हो जाता है । जब जीव ब्रह्मा के आसन पर आरोहण करने लगता है तो ब्रह्मा पूछते है

---

१ छां.उप ८.३.५

२ यत्सत्सकारस्तदमृत सद्ब्रह्म, अमृतवाचकत्वादमृत एव सकारस्तकारान्तो निर्दिष्ट । अथ यत्ति तकारस्तन्मर्त्यम् । अथ यद्यमक्षरं तेनाक्षरेणामृतमर्त्याख्ये पूर्व उभे अक्षरे यच्छति यमयति नियमयति वशीकरो वशीकरोत्यात्मनेत्यर्थ । छा उप शां. भा ८.३.५

कि 'तुम कौन हो' ?'कोऽसीति' । तब वह प्रत्युत्तर देता है कि, 'मै सत्य हूँ' ।प्रश्न होता है कि 'सत्य क्या है ?' जो देवताओ (इन्द्रियों) से भिन्न है और जो प्राणी से भिन्न है वह 'सत्' है । परन्तु जो देवता और प्राण है वे 'त्यम्' है । यह सब कुछ 'सत्य' शब्द से ही अभिव्यक्त किया गया है, जो कुछ भी यह सब कुछ है, वह तुम ही हो । अत इस निरुक्ति मे यह पता चलता है कि जब जीव यह अनुभव कर लेता है कि वह सत्य ब्रह्म की तरह 'सत्यरूप' हो गया है तभी वह ब्रह्ममय हो जाता है ।ब्रह्म के उपनिषदो मे दो रूप वर्णित है - मूर्त और अमूर्त ब्रह्म का सत् रूप अमूर्त है और 'त्यम्' रूप मूर्त है ।**किम् तद् यत् सत्यम् इति, यद् अन्यद् देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत् सद् अथ यद देवाश्च प्राणश्च तत् त्यम् तद ऐत्या वाचाभिव्याहृयते सत्यम् इति, एतावद् इदं सर्व इदं असीत्यवैनं तद् आह ।**[१]

निरुक्त के अनुसार सत्य अच्छे लोगो मे फैलता है या अच्छे लोगो से उत्पन्न होता है ।

सत्यं कस्मात्? सत्सु तायते, सत्प्रभवं भवति इति वा ।[२]

औपनिषदिक निर्वचनो से 'सत्य' शब्द के निगूढ अर्थो का बोध हो जाता है । 'सत्य' ब्रह्म का पर्याय है । सत्य मे जहाँ 'अमृत' और 'मर्त्य' दोनो है वही पर वह ब्रह्म के दो रूपो अमूर्त और मूर्त को भी अभिव्यक्त करता है । मृत्यूपरान्त जीव जब ब्रह्मलोक पहुँचता है तो वह सत्यस्वरूप हो ब्रह्ममय हो जाता है ।अत सत्य की यह निरुक्ति अध्यात्मपरक है ।

---

१ कौ उप १.६

२ निरुक्त ३ १ ३

समान

शाब्दिक अर्थ

समान शब्द (वि) सम् अन् धातु + अण् से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — तुल्य, सदृश, एक जैसा । समान शब्द का एक अर्थ यह है कि यह शरीर मे रहने वाले पॉच प्राणो मे से एक है । यह शब्द सम अन् धातु + णिच् + अण् से बनता है । यह प्राण नाभि के पास रहता है और अन्न को पचाने के लिये आवश्यक माना गया है ।[१]

उपनिषद् और समान

उपनिषद् वाङ्मय मे 'समान' शब्द[२] अनेक अर्थो मे लगभग दस बार प्रयुक्त हुआ है । समान शब्द[३] तुल्य अर्थ मे माण्डूक्य मे,[४] 'एक अर्थ'[५] मे श्वेताश्वतर[६] एव मुण्डक[७] मे, 'सदृश' अर्थ मे बृहदारण्यकोपनिषद्[८] मे प्राप्त होता है । इसी उपनिषद् मे शरीरस्थ पॉच प्राणो का उल्लेख भी मिलता है । प्राण, अपान, व्यान उदान और समान ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ० १२२४

२ Concordance P. 975

३. समानश्च भवति । मा.उप ८

४. समानस्तुल्यश्च ।वही.१०

५. समानमेकम् । श्वे उप शा.भा ४६

६. श्वे उप ३ १ १

७ मु उप ३.१.१

८ कतम आत्मेति योऽय विज्ञानमय· प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति· पुरुष स समान· सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ....। बृह उप.४७७

प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण।[१] प्राण मे ही मनुष्य का शरीर और आत्मा प्रतिष्ठित है। परन्तु प्रश्न उठता है कि 'प्राण' किसमे प्रतिष्ठित है? अपान मे; क्योकि प्राण वृत्ति भी यदि अपान वृत्ति द्वारा रोकी न जाये तो वह ऊपर ही ऊपर बाहर निकल जायेगी। 'अपान' किसमे प्रतिष्ठित है? व्यान मे, क्योकि यदि मध्यवर्तिनी वृत्ति व्यानवृत्ति से न रोकी जाये तो अपानवृत्ति नीचे की ओर ही चली जायेगी और प्राणवृत्ति ऊपर को ही निकल जायेगी। 'व्यान' किसमे प्रतिष्ठित है? उदान मे; क्योकि यदि ये तीनो प्राणवृत्तियाँ कील स्थानीय उदान वृत्ति मे बँधी हुई न हो तो सब ओर ही गमनशील हो जाये। उदान किसमे प्रतिष्ठित है? समान मे। अत: प्राण की सभी वृत्तियाँ समान मे ही प्रतिष्ठित है।[२]

हृदय के पाँच देवसुषि है। अर्थात् द्वारभूत पाँच छिद्र है।

(१) पूर्वदिशावर्ती सुषि	—	प्राण
(२) दक्षिर्णदिशावर्ती सुषि	—	व्यान
(३) प्रत्यर्डदिशावर्ती सुषि	—	अपान
(४) उदर्डदिशावर्ती सुषि	—	समान
(५) उर्ध्वदिशावर्ती सुषि	—	उदान[३]

सर्वश्रेष्ठ प्राण ही अपने का पाँच भागो मे विभक्त कर शरीर को धारण करता है।[४] प्राण पायु और उपस्थ मे अपान को स्थित करता है। चक्षु, श्रोत्र, मुख और नासिका मे वह स्वय स्थित होता है तथा मध्य मे समान स्थित रहता है।[५] जीव के निवास स्थान हृदय प्रदेश मे, मूलरूप से एक सौ नाडियाँ हैं। प्रत्येक शाखानाडी की बहत्तर- बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाडियाँ है। व्यान वायु शरीर की इन बहत्तर करोड नाडियो मे विचरण करता है।[६] इन सब नाडियो मे सुषुम्ना नाम की एक नाडी

---

१ बृह उप १ ५ ३.

२ कस्मिन्नु त्व चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राण प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्नवपान प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यान· प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदान· प्रतिष्ठित इति समान इति। वही ३९.२६

३ छा उप ३ १ ३ १-५

४ तान्वरिष्ठ प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः। प्रश्न.उप २ ३

५. वही ३ ५

६ वही. ३ ६

द्वारा ऊपर की ओर गमन करनेवाला उदानवायु जीव को पुण्यकर्म के द्वारा पुण्यलोक को और पापकर्म के द्वारा पापलोक को ले जाता है । पुण्य-पाप दोनो प्रकार के मिश्रित कर्मो द्वारा मनुष्य लोक को प्राप्त करता है ।[१]

निर्वचन

मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ।[२]

अर्थात् शरीर के मध्य अर्थात् नाभि प्रदेश मे 'समान' प्रतिष्ठित है । यह खाये-पीये हुए अन्न को सम करने के कारण समान कहलाता है । यह समान वायु ही हमारे उदर की जठराग्नि मे पहुँचे हुए अन्न को रस रूप मे परिणत कर समभाव से सारे शरीर मे पहुँचाता है । उस प्राणाग्नि से ही ये सात ज्वालाये — दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासारन्ध्र और एक रसना उत्पन्न होती है । प्राण से ही ये इन्द्रियाँ शक्ति सम्पन्न हो अपने-अपने विषयो की ओर प्रवृत्त होती है ।प्राण से ही इन्द्रियाँ गतिसम्पन्न होती है ।

निर्वचन - २

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती । समं नयतीति स समानः ।[३]

जैसे अग्निहोत्र का होता 'ऋत्विक्' होता है वैसे ही प्राणाग्नि रूप अग्निहोत्र का ऋत्विक् 'समान' (प्राण) है । क्योकि उच्छ्वास और निःश्वास अग्निहोत्र की आहुतियो के समान हैं । शरीर की स्थिति के लिये उन्हे जो समभाव से विभक्त करता है, वह समान प्राण ही प्राणाग्नि का ऋत्विक् है ।

समान अग्निहोत्र का नेता है । अत अन्न को सम्पूर्ण शरीर मे समभाव से पहुँचाने के कारण और उच्छ्वास-नि श्वास को शरीर की स्थिति के लिये समभाव से विभक्त करने के कारण ही समान का समानत्व है ।समान की इन औपनिषदिक निरुक्तियो से शरीर मे इसके स्थान और कार्य का बोध होता है । पाचन क्रिया मे समान का अभूतपूर्व योगदान है तो शरीर की स्थिति मे यह अपरिहार्य है ।

---

१ वही. ३.७.

२ वही ३.५

३. प्रश्न.उप.४४

सम्पद्

शाब्दिक अर्थ

सम्पद् शब्द (स्त्री) सम् + पद् धातु + क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ है — समृद्धि, सौभाग्य, सफलता, पूर्णता। सद्‌गुणो की वृद्धि, लाभ, गौरव, बाहुल्य और सौन्दर्य।[१]

उपनिषद् और सम्पद्

प्रमुख उपनिषदो मे 'सम्पद्' शब्द लगभग बारह बार[२] बृहदारण्यक एव छान्दोग्योपनिषद् मे ही उपलब्ध होता है। विदेहराज जनक के बहुदक्षिणा यज्ञ के अवसर पर आयोजित विद्वत्सम्मेलन मे होता अश्वल (विदेहराज जनक के याज्ञिक अनुष्ठानो के होता) ने महर्षि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि, 'मृत्यु तो सर्वत्र व्याप रही है, इससे मुक्ति कैसे सभव हो सकती है ? महर्षि याज्ञवल्क्य अश्वल के प्रश्नो का उत्तर देते हुए 'मुक्ति' और 'अतिमुक्ति' का विवेचन करते है। तदुपरान्त 'सम्पद्' अर्थात् सम्पत्तियो का वर्णन करते है।[३] भाष्यकार शकराचार्य 'सम्पद्' के स्वरूप का निरुपण करते हुए बताते है कि, 'भावना द्वारा किसी अन्य वस्तु का अन्य मे आरोप करना 'सम्पद्' कहलाता है'। राजसूयादि यज्ञ कर्म द्रव्यसाध्य है। इनके अनुष्ठान मे बहुत धन व्यय होता है। क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य तीनो वर्ण इसका अनुष्ठान भी नही कर सकते है। ऐसी अवस्था मे धनाभाव वर्ण मे उत्पन्न होने के कारण उनमे से जो किसी यज्ञकर्म को नही कर सकते, वे सम्पद् (आरोप) द्वारा उनका फल प्राप्त कर सकते है। यदि सम्पत्-कर्म न होता तो उनके लिये उन यज्ञो का

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ. १२३१

२ Concordance P. 981

३ अथ सम्पद । छा उप ३ १ ६

प्रतिपादन करनेवाला शस्त्र केवल स्वाध्याय मे ही उपयोगी हो सकता था। अत सम्पदो का प्रतिपादन बहुत उपयोगी है।[१]

बृहदारण्यकोपनिषद् मे परम पुरुष की परमगति, परमसम्पत्ति परमलोक परमानन्द का निरुपण किया गया है। परमपुरुष परब्रह्म की सम्पत्ति ही परम है अर्थात् वह सम्पूर्ण सम्पदाओ अर्थात् विभूतियो मे श्रेष्ठ है, क्योकि वह स्वाभाविक है। दूसरे प्रकार की सम्पत्तियॉ कृत्रिम है। इसका तात्पर्य यह है कि लौकिक सम्पादये — विभूतियॉ विनाशशील है। मनुष्य उन्हे प्राप्त भी करता है और कर्मफल की भाति वे नष्ट भी हो जाती हैं। परन्तु परम पुरुष की सम्पदाये परम है क्योकि वे उसका स्वभाव है। इसलिये वे सर्वश्रेष्ठ है।[२] उस परम पुरुष की गति, सम्पत्ति, लोक और आनन्द सभी परम अर्थात् स्वाभाविक होने के कारण श्रेष्ठ है।

निर्वचन-१

यो ह वै संपदं वेद स॑ हास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव् संपत्।

उपनिषदो मे वाणी को वसिष्ठ[३] चक्षु को प्रतिष्ठा[४] और श्रोत्र को सपत् और मन को आयतन[५] बताया गया है।

सम्पद् शब्द सम + पद् धातु गतौ से निष्पन्न हुआ है। अत जो कोई सम्पद् को जानता है उसे दैव और मानुष काम अर्थात् भोग सम्यक् प्रकार से प्राप्त होते है। सम्पद् शब्द का अर्थ है — सम्यक् प्रकार से प्राप्त होना। (स॑ पद्यन्ते) प्रश्न उपस्थित होता है कि वाणी वसिष्ठ है, चक्षु प्रतिष्ठा है तो श्रोत्र सम्पद् कैसे है ? श्रोत्र ही सम्पद् है, क्योकि श्रोत्र से वेद और उसके अर्थ का विशेष रूप से ज्ञान ग्रहण किया जाता है। तत्पश्चात् शास्त्रोक्त विधि से याज्ञिककर्मो का अनुष्ठान होता है और तदनन्तर भोगो की प्राप्ति होती है। अत भोगो की प्राप्ति होने के कारण 'श्रोत्र' सम्पद् है।

---

१ शा. भा वही.

२ याज्ञवल्क्य एषास्य परमागतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। बृह उप ४ ३.३२

३ वाग्वाववसिष्ठ। छां उप ५.१ २.

४ चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा। वही ५ १.३

५ वही.५ १ ५

निर्वचन - २

यो ह वै संपद वेदस्॑हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसम्पन्नाः स॑ ्हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एव वेद ।[1]

अर्थात् जो सम्पद् को जानता है, वह जिस काम-भोग की कामना करता है वही उसे सम्यक् रूप से प्राप्त हो जाता है । अत सपद् 'स्॑ पद्यते' से निष्पन्न हुआ है । श्रोत्र ही सम्पद् है । श्रोत्र का सम्पद्गुणत्व कैसे है ?श्रोत्र मे रहते हुए ही सम्पूर्ण वेद सब प्रकार से निष्पन्न होते है , क्योकि वे श्रोत्रेन्द्रियवान् द्वारा ही अध्ययन किये जा सकते है और भोग तो वेदविहित कर्मो (याज्ञिक अनुष्ठानो) के ही अधीन है । इसलिये श्रोत्र सम्पद् है । जो ऐसी उपासना करता है, वह जिस भोग की इच्छा करता है, वही उसे सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो जाता है ।

अत उपर्युक्त औपनिषदिक विवेचन एव निर्वचन से यह ज्ञात हो जाता है । कि सम्पद् दो प्रकार की है — परम सम्पद् और कृत्रिम सम्पद् । परमपुरुष ब्रह्म की ही परम सम्पद् है । ये सभी विभूतियो मे श्रेष्ठ होने के कारण परम है । दूसरी सम्पद् कर्मफलो से प्राप्त होती है, एतदर्थ वह कृत्रिम है । श्रोत्र ही सम्पद् है, क्योकि श्रोत्र मे ही वेद सम्पन्न होते है । तदनुरूप यज्ञो का अनुष्ठान होता है । फलस्वरूप तद्-तद् भोग उसे सम्यक् रूप से प्राप्त हो जाते है । परन्तु ये काम-भोगो के फल भोगने पर समाप्त हो जाते है । जबकि परम ब्रह्म की सम्पद् इन लौकिक विभूतियों से सर्वश्रेष्ठ होने के कारण परम है ।

---

१ बृह .उप ६.१.४.

सामन्

शाब्दिक अर्थ

सामन् (न) सो धातु + मनिन् प्रत्यय से निष्पन्न होता है। इसके शाब्दिक अर्थ है — शान्तिकरण, तुष्टि साधन, राजाओ के लिये शत्रु को वश मे करने का उपाय विशेष, कोमलता, प्रशसात्मक छन्द या गान और सामवेद के मत्र।[१]

उपनिषद् और सामन्

प्रमुख उपनिषदो मे 'सामन्' शब्द सौ से अधिक बार[२] उपलब्ध होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् मे वर्णित है कि, 'समान् एक मन्त्र है जिसे गाया जाता है।' **सामगायन्नास्ते।**[३] सम्पूर्ण चराचर प्राणियो का रस अर्थात् गति (आश्रय) 'पृथिवी' है, क्योकि प्राणियो की उत्पत्ति, स्थिति और लय का स्थान पृथिवी है। पृथिवी का रस 'जल' है, क्योकि पृथिवी जल मे ओत-प्रोत है। जल का रस ओषधियाँ है, क्योकि जल के कारण ही ओषधियाँ उत्पन्न होती है।'ओषधियो' का रस पुरुष है, क्योकि पुरुष का शरीर अन्नमय है। अन्न से ही 'वीर्य' की उत्पत्ति होती है। 'पुरुष' का रस 'वाक्-वाणी' है। वाणी ही सारतम है।[४]वाणी का सारभूत रस ऋक् है। ऋक् का रस 'साम' है। उससे भी अधिक सारतम जो है वह है साम का रस 'उद्गीथ'।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १२५१

२ Concordance P 1018-20

३ तै उप ३.१०.५

४ एषा भूताना पृथिवी रस पृथिव्या आपो रस। अपामोषधयो रस ओषधीना पुरुषो रस पुरुषस्य वाग्रसो ...। छा उप १ १ २

वाचः ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथ रसः ।[१] **साम कतमः** [२] साम क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर श्रुति कहती है कि 'प्राण ही साम है' । **प्राणः साम**[३] । 'साम' ही उद्गीथ है ।[४] ओ३म् ऐसा कहकर सामगान करने वाले साम का गान करते है ।[५] साम की गति क्या है ?'स्वर' । स्वर की गति क्या है ? 'प्राण' ।[६]

निर्वचन - १

एष उ एव साम वाग्वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् ।[७]

अर्थात् प्राण ही साम है । वाक् 'सा' है और प्राण 'अम' है । 'सा' + 'अम' ही साम है । यही साम का सामत्व है । 'साम' स्त्रीलिग है और 'अम' पुल्लिग है । साम शब्द वाणी और प्राण का अभिधान है । प्राण से निष्पन्न होनेवाला जो स्वरादि का समुदायमात्र गान है वह भी 'साम' शब्द से अभिहित है । वाणी भी प्राण से निष्पन्न होती है । अतः प्राण ही साम है, जो वाक् और प्राणरूप है ।

निर्वचन - २

यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्मादेव सामाश्नुते ।[८]

प्राण को साम इसलिये भी कहते है कि यह 'घुण' के (मच्छर के) समान है, हाथी के समान है, तीनो लोको के समान है और इस सम्पूर्ण विश्व के समान है । प्राण ही तो सबमे समाया हुआ है । सभी के समान है इसी से यह साम है । इसलिए साम ही प्राण है ।

निर्वचन - ३

वागेवक्प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम तस्माद्ध्यध्यूढ ँ साम गीयते । वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ।[९]

---

१. वही.
२. वही.१.१.४.
३. वही १ १.५
४. यत्साम स उद्गीथ : । वही.१ ३ ४
५. ओमिति सामानि गायन्ति । तै उप.१ ८ १
६. का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच । स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच । छां उप.१.८.४.
७. बृह उप १.३.२२
८. वही.
९. छा.उप.१ ७ १.

वाणी ही ऋक् है और प्राण साम है । अत वाक्रूप ऋक् मे प्राणरूप साम अधिष्ठित है । ऋक् मे अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है । वाक् ही 'सा' है और प्राण 'अम' है । अत दोनो मिलकर 'साम' है ।

निर्वचन - ४

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ् साम तस्मादृच्यध्यूढॅ् साम गीयते । चक्षुरेव सात्मामस्तत्साम ।[१]

चक्षु ही ऋक् है और आत्मा साम है । चक्षुरूप ऋक् मे आत्मारूप साम अधिष्ठित है । ऋक् मे अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है । चक्षु ही 'सा' है और आत्मा 'अम' है । ये दोनो मिलकर ही साम है ।

निर्वचन - ५

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ् साम तस्मादृच्यध्यूढॅ् साम गीयते । श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ।[२]

श्रोत्र ही ऋक् और मन साम है । श्रोत्ररूप ऋक् मे यह साम अधिष्ठित है । अतः ऋक् मे अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है । श्रोत्र ही 'सा' है और मन 'अम' है । दोनो मिलकर साम है ।

निर्वचन - ६

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढॅ् साम । तस्मादृच्यध्यूढॅ् साम गीयते । अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ।[३]

ऑखो की श्वेत आभा ही ऋचा है परन्तु नीली अर्थात् अत्यन्त श्याम आभा सामवेद है । शुक्लप्रकाश रूप ऋक् मे, नीलवर्ण अत्यन्त श्यामतारूप साम अधिष्ठित है । नेत्र की जो शुक्ल आभा है वह मानो 'सा' है और जो कृष्ण आभा है वह 'अम' है । ये दोनो मिलकर साम है ।

---

१ वही १.७.२

वही १.७.३

वही १.७.४

निर्वचन - ७

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्य्यध्यूढँ साम तस्मादृच्य्यध्यूढँ साम गीयत इयमेव साग्निरमस्तत्साम ।[१]

पृथिवी ही 'सा' है और अग्नि 'अम' है । अत ये दोनो मिलकर साम है । अर्थात् यह पृथिवी ही 'ऋक्' है और अग्नि ही साम है । वह यह अग्निसञ्ज्ञक साम इस ऋक् मे अधिष्ठित है । ऋक् मे अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है ।

निर्वचन - ८

अन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ।[२]

अर्थात् अन्तरिक्ष ही ऋक् है, वायु साम है । यह साम ऋक् मे अधिष्ठित है ऋक् मे अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है ।

निर्वचन - ९

द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम ।[३]

द्यौ ही 'सा' है और आदित्य 'अम' है । ये दोनो मिलकर साम है ।

द्यौ ही ऋक् है, आदित्य साम है । आदित्यरूप साम द्यौ रूप ऋक् मे अधिष्ठित है । ऋक् मे अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है ।

निर्वचन - १०

नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ।[४]

नक्षत्र ही 'सा' है और चन्द्रमा 'अम' है । ये दोनो मिलकर साम है । नक्षत्र ही ऋक् है, चन्द्रमा साम है । चन्द्रमारूप साम इस नक्षत्ररूप ऋक् मे अधिष्ठित है । अत ऋक् मे अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है ।

निर्वचन - ११

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परं कृष्णं तदमस्तत्साम ।[५]

---

१ वही १ ६.१
२ वही १ ६ २
३ वही १ ६ ३
४ वही १ ६ ४
५ वही १ ६ ६

आदित्य का शुक्ल प्रकाश 'सा' है और जो नीलवर्ण अत्यन्त श्यामता है वही 'अम' है। ये दोनो मिलकर साम है। आदित्य की शुक्ल ज्योति ऋक् है। उसमे जो नीलवर्ण अत्यन्त श्यामता है वह साम है। नीलवर्णरूप साम इस शुक्लज्योतिरूप ऋक् मे अधिष्ठित है। ऋक् मे अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है।

निर्वचन - १२

अमोऽहमस्मि सा त्वँ सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि।[1]

पति 'अम' है। पत्नी 'सा' है। दोनो मिलकर साम है।

निर्वचन - १३

अथ खल्वमुमादित्यँ सप्तविधँ सामोपासीत सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम।[2]

आदित्य सर्वदा सम है, इसलिये वह साम है। 'सम' कहने का क्या तात्पर्य है? वृद्धि और क्षय का अभाव होने के कारण आदित्य सदैव सम है इसी कारण से वह साम है। आदित्य के रूप मे सप्तविध साम की उपासना करनी चाहिये। आदित्य सामन् है क्योकि यह सदा ही सम है। सगीत मे जैसे सात स्वर है, वैसे सूर्य की सात किरणे ही उसका सगीत है। इसलिये सूर्य सदा साममय अर्थात् सगीतमय है। प्रत्येक मानव यह अनुभव करता है कि सूर्य मेरे लिए है। इस प्रकार सब मे और सबके प्रति सम होने से वह साम है।

निर्वचन - १४

साम प्राणो वे साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि ह्यस्मै सर्वाणि भूतानि।[3]

प्राण ही साम है। क्योकि प्राण मे ही सब भूत सगत होते है। सङ्गमन अर्थात् साम्यप्राप्ति के कारण प्राण साम है।

'साम' इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण मे सब जीव-जन्तु सिमटे हुए है। इसीलिये प्राण की साम सज्ञा है।

---

१ बृह उप ६.४.२०
२ छा.उप २९१
३ बृह उप ५१३३

अत उपनिषद्वाड्मय मे साम की बहुविध निरुक्तियाँ उपलब्ध होती है । निरुक्त के अनुसार, 'साम ऋचा द्वारा समान रूप से सीमित होने के कारण सम् + मा धातु निष्पन्न होता है । **साम सम्मितम् ऋचां अस्यते वां ऋचा समं मेने — इति नैदानाः ।**[१] अत उपर्युक्त समस्त निरुक्तियो से साम के अनेकविध स्वरूपो का बोध होता है ।

---

१ निरुक्त ७ १ २

सिन्धु

शाब्दिक अर्थ

सिन्धु शब्द (पु) स्यन्द् धातु + उ, सम्प्रासरण, दस्य ध से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — समुद्र, सागर, एक प्रसिद्ध नदी जो पजाब के पश्चिमी भाग मे है, सिन्धु नदी के आस-पास का देश, हाथी का मद, हाथी, वरुण, सिदुवार वृक्ष, विष्णु, चार की सख्या, सात की सख्या और सिन्धु देशवासी ।[१]

उपनिषद् और सिन्धु

प्रमुख उपनिषदो मे 'सिन्धु' शब्द केवल तीन बार[२] उपलब्ध होता है । बृहदारण्यकोपनिषद् मे सिन्धु शब्द नदियो अर्थात् शरीरस्थ नाडियो के लिये प्रयुक्त हुआ है । **सिन्धवो गुदा** ।[३] इस सन्दर्भ मे 'सिन्धव ' और 'गुदा ' दोनो शब्द बहुवचन मे है । अतएव यहॉ 'गुदा' शब्द लोक मे प्रसिद्ध नितम्ब अर्थ का बोधक नही हो सकता । सिन्धु अर्थात् 'स्यन्दन' (बहने)[४] मे समानता होने के कारण नदियॉ ही गुदा अर्थात् नाडियॉ है । सिन्धु शब्द का अर्थ ब्रह्माण्ड मे नदियॉ और पिण्ड मे नाडियॉ है ।

मधु क्षरन्ति सिन्धवः बृहदारण्यकोपनिषद् के इस सन्दर्भ[५] से ज्ञात होता है कि नदियॉ मधु रस का स्राव करती थी । तत्कालीन युग मे नदियॉ पवित्र होती थीं । उनका जल मधु के समान मधुर याने कि मीठा होता था । वे प्रदूषणरहित थी । इसलिये वे सुख देने वाली होती थी । उनका जल मधुमय होता था । ये नदियॉ

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १२६२

२ Concordance. P 1025

३ सिन्धव स्यन्दनसामान्यान्नद्यो गुदा नाड्यो बहुवचनाच्च । बृह उप शा भा वही ।

४ अत समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव सर्वरूपा । मु उप २.१.९

५ बृह उप ६ ३ ६

कहाँ से उत्पन्न होती थी ? परम पुरुष से ही नदियाँ, क्षारादि सात समुद्र और हिमालय आदि समस्त पर्वत उत्पन्न हुए है । गङ्गा आदि नदियाँ भी इसी से प्रवाहित होती है ।[१]

निर्वचन

स्यन्दन्ते सिन्धवः[२]

अर्थात् बहने के कारण ही नदियाँ सिन्धु कहलाती है । उपनिषदो मे समुद्र के लिये तो समुद्र शब्द का प्रयोग मिलता है परन्तु 'सिन्धु' शब्द सर्वदा नदियो के लिये ही प्रयुक्त हुआ है । **सैन्धव खिल्यः**[३] शब्द का अर्थ सिन्धु का विकार है । सम्भवत यहाँ 'सैन्धव' शब्द से समुद्र ही अभिप्रेत है, क्योकि सिन्धु का विकार नमक बताया गया है । नदियो का जल मधुमय होता है और समुद्र का पानी खारा होता है। समुद्र के पानी से ही नमक बनता है। नमक सिन्धु का विकार है। **सिन्धोर्विकारः सैन्धवः**[४] 'सिन्धु' शब्द का अर्थ यहाँ जल है । स्यन्दन करने अर्थात् बहने के कारण जल सिन्धु है । **स्यन्दानात्सिन्धुरुदकम्**[५] । उसका विकार तथा उससे उत्पन्न होने के कारण नमक 'सैन्धव' कहलाता है । अत जो सैन्धव हो और खिल्य (डला-पत्थर) हो उसे **'सैन्धवखिल्य'** कहते हैं । नमक के डले को उसके कारणभूत जल मे डाला जाये तो वह जल मे घुलकर पुन उसी मे लीन हो जाता है ।[६]

'सैन्धव' शब्द का अर्थ 'सिन्धुदेशीय' भी है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे 'सैन्धव' शब्द 'महासुहय' (शोभन हय अर्थात् सुलक्षणो से सम्पन्न अश्व) के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है । 'सिन्धु देश' का नाम 'सिन्धु' नदी पर ही है । कारण नदियो के किनारे ही जनपद बसते थे । सम्भवत इस प्रदेश के घोडे शोभन लक्षणो से युक्त होते होगे । इसीलिये उन्हे उत्तम जाति का माना जाता था । अत सैन्धव शब्द का अर्थ है, 'सिन्धु देशे भव'[७], अर्थात् जो सिन्धु देश मे उत्पन्न हुआ

---

१ त समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव सर्वरूपा । मुं उप २ १ ९

२ मु उप २ १ ९

३ बृह उप २ ४ १ २

४ बृह उप शा भा वही

५ वही

६ महासुहय सैन्धव । बृ उप ६ १ १ ३

७ बृह उप शां भा वही

हो । इस सन्दर्भ से यह भी ज्ञात होता है कि उस युग मे नदियो के नामो पर जनपदो के नाम रखे जाते थे । जैसे सिन्धु नदी के नाम पर सिन्धु देश का नाम प्रसिद्ध हुआ ।सिन्धु समुद्र को भी कहते थे, क्योकि सिन्धु के विकार अर्थात् नमक को 'सैन्धव' सज्ञा प्राप्त हुई । सिन्धु प्रदेशीय वस्तुओ को भी 'सैन्धव' कहते थे । जैसे सिन्धुदेशीय उत्तम लक्षणो से युक्त 'अश्व' को 'महासुहय सैन्धव ' कहा गया । अत· स्यन्दनशील होने के कारण नदियो को या जल को 'सिन्धु' कहते थे ।

सुकृत

शाब्दिक अर्थ

सुकृत शब्द मे 'सु' (अव्य) (सु + डु) यह एक अव्यय है, जो सज्ञावाची शब्दो के साथ कर्मधारय और बहुब्रीहि समासो मे तथा विश्लेषणवाची एव क्रियाविशेषण वाची शब्दो के साथ व्यवहृत किया जाता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — अच्छा, उत्तम (सुन्दर) सहज, सुकर या सुलभ सु + कृत = सुकृत । सुकृत शब्द (वि.) सु कृ + क्त से बना है । सुकृत शब्द के शाब्दिक अर्थ है — दानशील, परहितैषी, यज्ञ करने वाले, शोभन करने वाला, किया हुआ शोभन कार्य, भली भॉति किया हुआ, भली-भॉति बनाया हुआ । (न) पुण्य, सत्कार्य, दान, सौभाग्य और दया ।[१]

उपनिषद् और सुकृत

प्रमुख उपनिषदो मे 'सुकृत' शब्द लगभग दस बार विभिन्न अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है ।[२] छान्दोग्योपनिषद् मे 'सुकृत' और 'दुष्कृत' दोनो विपरीतार्थक शब्द एक साथ उपलब्ध होते है । यहॉ 'सुकृत' सापेक्ष अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।

न सुकृतं न दुष्कृतँ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते ।[३]

शकराचार्य सुकृत-दुष्कृत का अर्थ धर्माधर्म करते है । **न सुकृतं न दुष्कृतं सुकृतदुष्कृते धर्माधर्मौ ।**[४]

---

१. शब्दार्थ कौस्तुभ पृ० १२६४-६५

२ Concordance P 1026

३. छा.उप ८४.१

४ शा.भा.वही

सुकृत का अर्थ जहॉ धर्म किया गया वही 'पुण्य'[१] और सत्कर्म[२] भी किये गये है । यमाचार्य नचिकेता को उपदिष्ट करते हुए बताते है कि 'पञ्चाग्नि' अर्थात् पॉच यज्ञो को करनेवाले कर्मकाडियो तथा त्रिनाचिकेत अग्नियो को करने वाले ज्ञानकाडियो मे 'छाया' और 'आतप' जैसा अन्तर है ।जो केवल बाह्ययज्ञो का अनुष्ठाता है वह मानो 'छाया' का अनुसरण करता है और जो त्रिणाचिकेत अग्नि याने कि ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठाता है वह वस्तुत प्रकाश (धूप) को प्राप्त करता है । ये दोनो ही अपनी-अपनी दृष्टियो से 'ऋत' (Absolute truth) याने कि निरपेक्ष सत्य का पान करते है । परन्तु पञ्चाग्नि यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले 'सुकृत लोक' अर्थात् स्वर्ग को प्राप्त करते है ।[३] स्वर्गलोक की प्राप्ति 'सुकृत' अर्थात् पुण्य कर्मो से होती है । परन्तु जब जीव के पुण्यकर्मो का फल क्षीण हो जाता है तो वह पुन इस मृत्युलोक मे जन्म लेता है ।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतर वा विशन्ति ।[४]

शकराचार्य 'सुकृत' शब्द का अर्थ 'स्वयकृतस्य कर्मण' करते है । इसका अभिप्राय यह है कि 'जीव अपने किये हुए कर्मो का फल भोगता है ।' सत्यव्रत सिद्धातालकार 'सुकृतस्य लोक' का अर्थ 'पुण्य कर्मो से प्राप्त हुए मनुष्यजन्म मे' ऐसा करते है । वस्तुत मानवजन्म भी पुण्यकर्मो के फलस्वरूप और अपने कृतकर्मो के फलो का भोगने के लिये होता है । चतुर्विध सृष्टि मे मानव योनि ही सर्वश्रेष्ठ मानी गई है । जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज यह चार प्रकार की सृष्टि है । जरायुज याने कि गर्भ से उत्पन्न होनेवाले दो प्राणी है — (१) पशु और (२) मनुष्य । मनुष्ययोनि क्यो श्रेष्ठ है, क्यो सुकृत है ? इससे सम्बन्धित एक आख्यायिका ऐतरेयोपनिषद् मे मिलती है । स्रष्टा ने सर्वप्रथम चार लोक (१) अम्भस्, (२) मरीची, (३) 'मर' और (४) आपस् रचे । उसने इन लोको के आठ लोकपालो — (१) अग्नि, (२) वायु, (३) आदित्य, (४) दिशाओ, (५) वनस्पति, (६) चन्द्रमा, (७) मृत्यु, (८) और जल, को रचा । ये ब्रह्माण्ड के आधारभूत तत्त्व थे । ये आठ लोकपाल

---

१ स्त्रीणा्॑ सुकृत वृङ्क्ते ....। बृह उप ६ ४ ३

२ मयि तेज इन्द्रिय यशो द्रविण्॑ सुकृतमिति ....। वही ६ ४ ६

३ कठ उप ३ १

४ मु उप. १ २ १०

विराट्पुरुष के शरीर से रचे गये थे । इन देव लोकपालो याने कि देवताओ को स्रष्टा ने भूख और प्यास से युक्त कर दिया । भूख और प्यास से ये सभी अत्यन्त व्याकुल हो गये । फलस्वरूप उन्होने स्रष्टा से निवेदन किया कि हमारे लिये कोई आयतन अर्थात् आश्रयस्थान बनाइये जिसमे स्थित होकर हम अन्न भक्षण कर सके ।स्रष्टा ने देवताओ के अनुरोध पर पहले 'गौ' के और तदुपरान्त 'अश्व' के शरीर का निर्माण किया । देवताओ ने कहा कि ये दोनो आयतन-आश्रयस्थान उनके लिये पर्याप्त और उपर्युक्त नही है । तब विधाता ने मनुष्य शरीर की निर्मिति की और देवताओ ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया । वे सब अत्यन्त प्रसन्न होकर बोल उठे, 'यह सुन्दर बना है । 'सुकृत है ।' निश्चय ही पुरुषस्रष्टा की सर्वसुन्दर रचना है । तब देवताओ ने इस पुरुष शरीर को अपना-अपना आयतन बनाया । यहाँ 'सुकृत' शब्द का अर्थ है शोभन कृति अर्थात् रचना । अत ससरण की प्रक्रिया मे अपने किये हुए कर्मो के फल भोगने हेतु ही पुरुष जन्म पुण्यो के फलस्वरूप मिलता है अत 'सुकृत' शब्द को अर्थ है, शोभन सृष्टि ।

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृत बतेति पुरुषो वाव सुकृतम् ।[1]

निर्वचन

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मना ँ स्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति । यद्वै तत्सुकृतम् रसो वै सः ।रस ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।[2]

अर्थात् प्रारम्भ मे यह जगत् असत्-अव्याकृत ब्रह्मरूप ही था । उसी से सत्-नामरूपात्मक व्यक्त जगत् की उत्पत्ति हुई । उस असत् ने स्वय अपने को ही नाम-रूपात्मक जगद्रूप से रचा । इसीलिये वह सुकृत, 'स्वय रचा' कहा जाता है । 'वह जो 'सुकृत' है निश्चय रस ही है ।इस रस को प्राप्तकर मनुष्य 'आनन्दी' हो जाता है ।

इस निरुक्ति से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म ही 'सुकृत' है । अर्थात् सबका कारण होने से ब्रह्म स्वय कर्त्ता है । अथवा, क्योकि सर्वरूप होने से ब्रह्म ने स्वय ही इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की है । इसलिये पुण्यरूप से भी उसका कारण रूप

---

१ ऐत उप १ २ २

२ तै उप २ ७ १

वह ब्रह्म 'सुकृत' कहा जाता है। अत ब्रह्म ही स्वयकृत है। इसीलिये स्वय + कृत - (कृ- डुकृञ् करणे) से निष्पन्न हुआ है। स्वय कर्त्ता होने से ब्रह्म ही सुकृत है, वह निश्चय रस ही है और आनन्दी है। पुण्य ब्रह्मलोक की प्राप्ति भी 'सुकृत' से ही होती है।[१]

एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोके[२]

---

१. तै उप शा भा वही

२ मुं उप १ २ ६

सृष्टि

शाब्दिक अर्थ

सृष्टि शब्द सृज् धातु + क्तिन् प्रत्यय से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है — ससार की रचना, प्रकृति, रचना, दान और एक प्रकार की ईट जो यज्ञ की वेदी बनाने मे काम आती थी ।[१]

उपनिषद् और सृष्टि

प्रमुख उपनिषदो मे 'सृष्टि' शब्द केवल दो बार[२] बृहदारण्यको ानिषद् के एक ही सन्दर्भ मे उपलब्ध होता है ।

निर्वचन

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यह्ँ हीद्ँ सर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याँ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ।[३]

अर्थात् प्रजापति ने 'मै ही सृष्टि हूँ ' ऐसा जाना । मैने इन सबको रचा है, इसी कारण वह सृष्टिसज्ञक है और जिसका सर्जन याने कि निर्माण किया जाता है, वह सृष्ट (उत्पन्न) जगत् सृष्टि कहलाता है ।[४] इसका अभिप्राय यह है कि स्रष्टा और सृष्ट अर्थात् सृष्टि अभिन्न है । दोनो एक है 'पूर्णमद पूर्णमिद' है ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १२८१

२ Concordance. P 1039

३. बृह उप १.४५

४ अहमेव सृष्टि ,सृज्यते इति सृष्ट जगदुच्यते सृष्टिरिति । यन्मया सृष्ट जगन्मदभेदत्वादहमेवास्मि न मत्तो व्यतिरिच्यते । कुत एतत ? अहं हि यस्मादिदं सर्वं जगदसृक्षि सृष्टवानस्मि तस्मादित्यर्थः । बृह उप शा भा वही

स्तोम

शाब्दिक अर्थ

स्तोम शब्द (न) स्तु धातु + मन् वा स्तोम् धातु + अच् से निष्पन्न हुआ है। इसके शाब्दिक अर्थ है — शिर, घन, लोहे की नोक वाला डडा। (पु) समूह, राशि, यज्ञ, एक विशेष प्रकार का यज्ञ, स्तुति यज्ञकर्ता।[१]

उपनिषद् और स्तोम

प्रमुख उपनिषदो मे 'स्तोम' शब्द केवल दो बार[२] उपलब्ध होता है। कठोपनिषद्[३] मे 'स्तोम' स्तुत्य[४] अर्थ मे और छान्दोग्योपनिषद् मे स्तोष्यमाण[५] अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

निर्वचन

स्तोमेण स्तोष्यामाणः ।

अर्थात् स्तोम से स्तुति करने वाला। अत. यहाँ स्तोम शब्द 'स्तोष्यमाण' अर्थात् स्तुति अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। स्तुञ् स्तुतौ से यह शब्द निष्पन्न होता है। निरुक्त मे इसकी निरुक्ति **स्तोमः स्त्वनात्**[६] से हुई है।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १२९६
२ Concordance P 1045
३ कठ उप १ २ ११
४ स्तोम स्तुत्यम्। कठ उप शा भा वही
५ छा उप १८ १२
६ नि ८ १२

स्वपिति

शाब्दिक अर्थ

लोक मे स्वपिति शब्द का अर्थ है — सुषुप्ति अर्थात् गाढ-निद्रा ।

उपनिषद् और स्वपिति

प्रमुख उपनिषदो मे 'स्वपिति' शब्द लगभग पद्रह बार उपलब्ध होता है ।[१] स्वपिति के लिये उपनिषदो मे 'स्वप्नान्त' शब्द भी मिलता है । प्रमुख उपनिषदो मे 'स्वप्नान्त' शब्द छ बार प्रयुक्त हुआ है ।[२] छान्दोग्योपनिषद् मे महर्षि उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को आत्मा की तृतीय अवस्था सुषुप्ति को समझाते हुए 'स्वप्नान्त' और स्वपिति दोनो शब्दो का प्रयोग एक ही सन्दर्भ मे करते है । **उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतु पुत्रमुवाच स्वप्नान्त मे सोम्य विजानीहीति** ।[३] आत्मा को चतुष्पाद् कहा गया है । **सोऽयमात्मा चतुष्पाद् ।**[४] चतुष्पाद आत्मा के चार पाद निम्नरूपेण वर्णित है —

(१) जागरित स्थान	=	वैश्वानर
(२) स्वप्न स्थान	=	तैजस
(३) सुषुप्त स्थान	=	प्राज्ञ
(४) चतुर्थम् (तुरीय)	=	आत्मा

---

१ Concordance P 1058
२ वही पृ १०६०
३ छा.उप ६८१
४ मा.उप २

आत्मा का तीसरा पाद 'सुषुप्ति' है। 'स्वपिति' और 'स्वप्नान्त' दोनो शब्दो का अर्थ सुषुप्ति ही है। 'स्वप्नान्त' शब्द स्वप्न + अन्त से बना है। स्वप्न के मध्य (अन्त) को सुषुप्ति कहते है। शकराचार्य के अभिमत मे 'स्वप्नान्त' शब्द का तात्पर्य 'स्वप्न का तत्त्व' भी हो सकता है। ऐसा मानने पर भी अर्थत सुषुप्त ही सिद्ध होता है, क्योकि सुषुप्त्यावस्था को छोडकर और किसी दशा मे जीव को स्वरूपप्राप्ति नही होती है। अत 'स्वप्नान्त' शब्द का वाच्य सुषुप्ति ही है।[१]

निर्वचन - १

यत्रैत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनँ स्वपितीत्याचक्षते स्वँ ह्यपीतो भवति।[२]

अर्थात् जब मनुष्य सुषुप्त्यावस्था मे होता है तो वह 'सत्' से सम्पन्न हो जाता है। स्वप्नान्त अवस्था मे मन की भी निवृत्ति हो जाती है। जाग्रतावस्था मे मन इन्द्रियो के साथ ससक्त होकर सासारिक भोागो को भोगता है।

स्वप्नावस्था मे स्वप्न की सृष्टि मन से ही होती है। परन्तु सुषुप्ति मे पुरुष मन आदि के ससर्ग से प्राप्त हुए जीवरूप को त्यागकर अपने सद्रूप को जो कि परम सत्य है, प्राप्त हो जाता है। इसीलिये लोक मे पुरुष इसे 'स्वपिति' ऐसा कहकर पुकारते है, क्योकि यह 'स्वम्' अर्थात् आत्मा को 'अपीत' — प्राप्त हो जाता है। अत उद्दालक ऋषि के अभिमत मे सुषुप्त्यावस्था मे जीव अपने 'सद्रूप' को प्राप्त हो जाने के कारण ही 'स्वपिति' कहलाता है। परन्तु यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है सासारिक पुरुषो को स्वात्मा की प्राप्ति कैसे होती है ?

सुषुप्त्यावस्था, जाग्रतावस्था के श्रम के कारण होती है। जाग्रतावस्था मे मनुष्य मन और इन्द्रियो सहित सासारिक भोगो को भोगते हुए क्रियाशील रहता है। फलस्वरूप श्रमित होता है। इसीलिये कहा गया है कि, **श्राम्यति एव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रम्।**[३] जाग्रत मे वाक्, चक्षु और श्रोत्र श्रमित होते है। याने कि थक जाते है। परन्तु सुषुप्ति मे समस्त इन्द्रियवर्ग प्राण मे लीन हो जाता है।[४] केवल एक प्राण ही अश्रान्त रहकर देहरूपी घर मे जागता रहता है। उस समय जीव श्रमनिवृत्ति के लिये अपने यथार्थ स्वरूप 'सत्' को प्राप्त हो जाता है, क्योकि स्वरूप मे स्थित होने के अतिरिक्त और कही श्रमनिवृत्ति सम्भव नही हो सकती है।

---

१ छा उप शां भा ६ ८ १

२ छा उप ६ ८ १

३ बृह उप १ ५ २१

४ गृहीता वाग् गृहीत चक्षुर्गृहीत श्रोत्र गृहीत मन। वही २ १ १७

अत स्वपिति शब्द की इस निरुक्ति से सुषुप्त्यावस्था मे जीव की स्थिति का बोध होता है । अत यह निर्वचन दार्शनिक है ।

निर्वचन - २

एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषा प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृहाणत्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः ।[1]

अर्थात् सुषुप्ति मे विज्ञानमय पुरुष इन्द्रियो अर्थात प्राणो के विज्ञान को जो इसी के द्वारा दिया हुआ है, अपने विज्ञान से खीच लेता है और उस सारे विज्ञान को समेटकर, हृदय के भीतर जाकर सो जाता है । अर्थात् वह आत्मा को ही 'अपीति' (अपिगच्छति) याने कि प्राप्त हो जाता है । इसीलिये उस समय यह पुरुष 'स्वपिति' नामवाला ही जाता है ।यह इसका गुणजनित नाम है । सुषुप्ति मे वह वागादि इन्द्रियो का उपसहार कर लेता है, इस कथन का तात्पर्य यह है कि इस अवस्था मे चक्षु, श्रोत्र और मन प्राण मे लीन हो जाते है । फलस्वरूप क्रिया, कारण और फलरूपता का अभाव हो जाने से सासारिक धर्मो से अतीत होकर आत्मा अपने स्वरूप मे स्थित रहता है ।

निर्वचन -३

तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वीपितीत्याचक्षते ।[2]

सौर्यायणी गार्ग्य महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न करते है कि, 'इस मनुष्य देह मे कौन सोते है ? [3] पिप्पलाद ऋषि उत्तर देते है कि, ' हे गार्ग्य ! जैसे सूर्य के अस्त होने पर सम्पूर्ण किरणे उसके तेजोमण्डल मे ही एकत्रित हो जाती हैं और उसका उदय होने पर वे पुन दिग्दिगन्त मे प्रसारित हो जाती हैं ।[4] वैसे ही सुषुप्ति मे ये समस्त इन्द्रियॉ मन में एकत्रित हो जाती है । मनरूपी सूर्य की किरणे मानो इन्द्रियॉ ही है । मन के अस्त होने पर अर्थात् सोते समय (सुषुस्ति में) ये सभी सिमिटकर

---

१. बृह .उप २११७

२ प्रश्न उप ४२.

३ अथ हैन सौर्यायणी गार्ग्य पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति । प्रश्न .उप. ४१

४ तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्त गच्छत सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ता पुन पुनरुदयत प्रचरन्त्येव ह वै तत्सर्व परे देवे मनस्येकी भवति । वही ४२

मन मे एक ही एकीभूत हो जाती है । फलस्वरूप सुषुप्ति मे पुरुष न सुनता है, न देखता है, न आनन्द लेता है, न मलमूत्र त्यागता है और न चलता है ।ससार मे तब यह कहा जाता है कि वह सो रहा है (स्वपिति) स्वपिति की उपर्युक्त निरुक्ति से सुषुप्त्यावस्था मे जीव की स्थिति का बोध हो जाता है । अत इन औपनिषदिक निर्वचनो से जो तथ्य स्पष्ट होते है वे इस प्रकार है ।[1]

(१) स्वपिति — सुषुप्ति मे आत्मा 'सत्' को ही प्राप्त हो जाता है ।
सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति ।

(२) स्वपिति — वह 'स्वम्' अर्थात् आत्मा को प्राप्त हो जाता है ।
स्वमपीतो भवति तस्मादेनॅ् स्वपितीत्याचक्षते स्वॅ् ह्यपीतो भवति ।

(३) स्वपिति — यह विज्ञानमय पुरुष जब सोता है तो उस समय वह विज्ञान के द्वारा, इन प्राणो के विज्ञान को ग्रहणकर यह जो हृदय के भीतर आकाश है उसमे शयन करता है ।
य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृहाणत्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम ।

(४) स्वपिति — सुषुप्ति मे पुरुष न सुनता है, न देखता है, न आनन्द लेता है, न मलमूत्र त्यागता है न चलता है, तभी कहा जाता है कि — वह सो रहा है ।
तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ।

अत छान्दोग्योपनिषद् मे वर्णित 'स्वपिति' के निर्वचन से दर्शन की एक मूलभूत समस्या का भी समाधान हो जाता है । इससे यह ज्ञात होता है कि 'आत्मा सत्' है तभी सुषुप्ति मे वह अपने 'सत् स्वरूप' को प्राप्त होता है । अत 'स्वपिति' तत्त्वपरक गुणपरक निर्वचन है ।

---

१. प्रश्न उप ४२

हंस

शाब्दिक अर्थ

हस शब्द (पु.) हस धातु + अच, पृषो वर्णागमात् साधु से निष्पन्न हुआ है । इसके शाब्दिक अर्थ है — बत्तख की तरह का एक जलपक्षी, यह ब्रह्मा जी का वाहन है, वर्षा ऋतु के आरम्भ मे यह मानसरोवर चला जाता है, यह नीरक्षीर विवेक शक्ति से सम्पन्न पक्षी है अर्थात् वह दूध मे मिले हुए जल को अलग कर देता है ।वह परब्रह्म, परमात्मा, जीवात्मा, सूर्य, शिव, विष्णु और कामदेव है ।[१]

उपनिषद् और हंस

प्रमुख उपनिषदो मे 'हस' शब्द केवल सात बार[२] उपलब्ध होता है ।छान्दोग्योपनिषद् मे 'हस' शब्द मानवेतर प्राणी, एक पक्षी विशेष के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।

अथ ह ह॑ँसा निशायामतिपेतुः ।[३]

इस सन्दर्भ मे एक हस दूसरे हस से वार्तालाप करते हुए गाडीवान् रैक्व की प्रशसा करता है । अतः छान्दोग्योपनिषद् मे मानवेतर प्राणियो को मनुष्यो की तरह सवाद करते हुए वर्णित किया गया है । इतना ही नही सत्यकाम जाबाल बहुत वर्षो तक जगल मे निवास कर जब आश्रम की ओर लौट रहा होता है तो उसे चतुष्पाद ब्रह्म के एक पाद का उपदेश हस ही ने ही दिया था । **ह॑ँसस्ते पादं वक्तेति ।**[४]

---

१. शब्दार्थ कौस्तुभ.पृ १३१९

२ Concordance. P 1067

३. छां.उप ४१ २

४. वही ४७.१-२

कठोपनिषद्[१] और श्वेताश्वतरोपनिषद्[२] मे 'हस' परमात्मा का पर्याय है। परमात्मा एक है। अविद्यादि के बधन का नाश करने के कारण वही 'हंस' कहलाता है।[३] वही त्रिलोकी मे स्थित है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् मे हस जीवात्मा का प्रतीक है। नवद्वारो (दो ऑख, दो नाक, दो कान और एक मुख इन सात सिर के और गुदा एव लिङ्ग, इन दो निम्नभाग के इस प्रकार नौ द्वारों) वाले शरीर मे हस देहभिमानी होकर बाह्य सासारिक विषयो को भोगता है, याने कि ग्रहण करता है।

नवद्वारे पुरे देही हँ्सो लेलायते बहिः।[४]

जीव अपने को और सर्वनियामक परमात्मा को अलग-अलग मानकर इस महान् ब्रह्मचक्र मे देवता, मनुष्य और तिर्यागादि बहुविध योनियो मे भ्रमण करता हुआ ससरण करता है।[५] स्वप्नावस्था में आत्मा शरीर को निश्चेष्ट कर देता है और स्वय असुप्त रहकर सुप्त पदार्थो को प्रकाशित करता है। वह पुन स्वप्न से जागरित स्थान मे आ जाता है। वह हिरण्मय पुरुष अकेला ही दोनो स्थानो मे (स्वप्न और जागरित में) जाने वाला है।[६]

निर्वचन

हंसगतयो

हस शब्द **हंसगतयोः** से बना है। भाष्यकर शकराचार्य **हन्तीति हंसः** द्वारा इसकी व्युत्पत्ति करते हैं। अर्थात् गमन करने के कारण अथवा चलने के कारण ही परमात्मा 'हस' कहलाता है।[७] अविद्यादि बन्धन का और अविद्याजनित कार्यो का हनन करने के कारण परमतत्त्व की 'हंस' सज्ञा है। **हन्त्यविद्यात्मकं कार्यमिति।**[८]

---

१ हँ्स शुचिषद्वसु ......। कठ २ २.२
२ एको हँ्सो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि सलिले संनिविष्ट। श्वे उप ६ १५
३ बन्ध कारणमिति हंस। श्वे.उप शा भा.वही.
४. श्वे उप ३ १८
५ सर्वाजीवे सर्वसस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। वही १.६.
६ स्वप्नेन शरीरमभिप्रहत्या सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरैति स्थानँ् हिरण्मयः पुरुष एक हँ्सः।"
७ बृह .उप.शां.भा वही
८ श्वे उप शां भा ३ १८

अथवा **हन्त्यविद्यादिबन्धकामितिहंसः।**[1] कहलाता है।

हन्ति गच्छत्यध्वानमिति हंसः।[2] जीव की सज्ञा 'हस' है क्योकि वह ससारचक्र मे अनेक योनियो मे ससरण करता है। निरुक्त के अनुसार हस, शब्द हन् धातु मारने से या ये रास्तो को समाप्त करते है, इस प्रकार निष्पन्न होता है। **हंसाः हन्तेः, हनन्ति अध्वानम्।**[3] अत· उपर्युक्त निरुक्तियो से यह ज्ञात होता है कि गमन करने के कारण, अविद्या का नाश करने के कारण, स्वप्नावस्था से जाग्रत अवस्था मे गमन करने के कारण परमात्मा हंस कहलाता है।

---

१ वही.६.१५

२ वही.१६.

३ निरुक्त.४१३

हृदयम्

शाब्दिक अर्थ

'हृदय' यह शब्द हृ धातु + कयन्, दुक् आगम से निष्पन्न होता है । इसके शाब्दिक अर्थ है— दिल, मन, अन्त करण । मानवशरीर मे हृदय एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना गया है ।[१]

उपनिषद् और हृदय

प्रमुख उपनिषदो मे 'हृदय' शब्द पचास से अधिक बार[२] उपलब्ध होता है । हृदय मे आत्मा निवास करता है । **एष म आत्मान्तर्हृदये... ।**[३] हृदय ही ब्रह्म है । **हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म ।**[४] हृदय ही सब प्राणियो का आश्रयस्थान है, हृदय मे ही सब प्राणी प्रतिष्ठित होते है, आश्रय पाते है ।[५]

निर्वचन

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं् हृद्यमिति तस्माध्दृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ।[६]

आत्मा हृदय मे है । **'हृदि अयम्'** (यह हृदय मे है) यही इसकी निरुक्ति है । हृदय को हृदय इसीलिए कहते है कि 'हृदि + अयम्' — यह हृदय मे है । आत्मा हृदय मे विद्यमान होने के कारण ही वह हृदय कहलाता है ।

---

१ शब्दार्थ कौस्तुभ पृ १३३५

२ Concordance P. 1077-79

३ छा.उप.३ १४.३

४ बृह उप ४ १ ७

५. वही.

६ छां.उप.८ ३ ३

अर्थात् 'यह आत्मा हृदय मे है' ऐसा जानने वाला पुरुष हृदयस्थ ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । प्रश्न हो सकता है कि शरीर मे हृदय ही सतत क्रियाशील क्यो रहता है ? क्योकि चेतन तत्त्व आत्मा हृदय ही है या ऐसा कहना अधिक युक्तिसगत होगा कि हृदय मे ही निवास करता है । हृदय शब्द तीन वर्णो से बना है — हृ + द + य ।

तदेतत् त्र्यक्षरॅं हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति ।[1]

हृ —यह एक अक्षर है । यह 'हृञ् हरणे' धातु से बना है । इसका अर्थ है— अभिहरण अर्थात् आहरण (लाना) ।

द — यह दूसरा अक्षर है । यह दानार्थक दा (दाने) धातु से बना है । इसका अर्थ है — देना ।

य — यह तीसरा अक्षर है । यह 'इण् गतौ' धातु से बना है । इसका अर्थ है — जाना ।

हृदय द्वारा शरीर के रक्त का लेना-देना चलता रहता है । हृदय पहले शरीर के अशुद्ध रक्त को लेता है । फेफडो द्वारा उसे शुद्ध कर, पुन इसे शरीर को देता है । इसीलिये हृदय सतत गतिशील रहता है । इस निरुक्ति से यह भी ज्ञात होता है कि हृदय की कार्य-पद्धति का बोध करवाने के कारण यह व्युत्पत्ति जीवविज्ञानपरक है; क्योकि शरीरस्थ रुधिर की गति का बोध भी इस निरुक्ति से ज्ञात होता है ।

---

१ बृह उप ५ ३ १

डॉ वेदवती वैदिक

उपनिषद् विद्या और वेदवती वैदिक एक-दूसरे के पर्याय बन गए है। दिल्ली विश्वविद्यालय से सस्कृत मे बी ए (ऑनर्स) और एम ए करने के पश्चात उन्होने 'श्वेताश्वतर उपनिषदो के भाष्यो का एक अध्ययन' विषय पर १९७७ मे पीएच डी की उपाधि प्राप्त की। उपनिषद् विद्या पर उनके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हुए। 'श्वेताश्वतर उपनिषद् दार्शनिक अध्ययन' 'उपनिषदो के ऋषि' 'उपनिषद् वाड्मय विविध आयाम', तथा 'उपनिपद्युगीन सस्कृति'। भगवद्गीता के हिन्दी और अग्रेजी अनुवाद ग्रथ के अनेक सस्करण हो चुके हैं। 'उपनिषदो के निर्वचन' शीघ्र प्रकाश्य।

इसके अतिरिक्त प्रतिष्ठित शोध-पत्रिकाओ सपादित पुस्तको और अभिनन्दन ग्रन्थो में वेद, उपनिषद् भारतीय सस्कृति एव पर्यावरण पर अनेक शोध-पत्र प्रकाशित। 'अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद', 'अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्' तथा 'वर्ल्ड एसोसिएशन फॉर वैदिक स्ट्डीज' के अधिवेशनो मे सक्रिय भाग एव अनेक राष्ट्रीय एव अन्तरराष्ट्रीय सगोष्ठियो मे शोध-पत्रो की प्रस्तुति।

अमेरिका चीन, ब्रिटेन, फ्रास, जर्मनी, स्विटजरलैड आस्ट्रिया चेकोस्लोवाकिया त्रिनिदाद कजाकिस्तान, थाईलैंड सिगापुर, मोरिशस, भूटान, अफगानिस्तान ईरान, इराक तुर्की, लेबनान आदि देशो की यात्रा।

१९८६ से दिल्ली विंश्वविद्यालय के दक्षिण-परिसर मे एम ए और एम फिल् कक्षाओ मे प्राध्यापन एव शोध निर्देशन। 'इण्डियन कौंमिल ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च' की सीनियर फेलो (१९८०-८३)।

१९७७ से दिल्ली विश्वविद्यालय के मैत्रेयी महाविद्यालय मे अध्यापन तथा सप्रति श्री अरविन्द महाविद्यालय (माध्य) मे रीडर एव सस्कृत विभागाध्यक्ष।

ALL MAHAPURANAS

Text with Shloka Index & Introduction

Agni Mahapurana
664 pp 500 00

Bhagavata Mahapurana-
4vols 2304 pp Set 1800 00

Bhavishya Mahapurana
3vols 1400 pp Set 1500 00

Brahma Mahapurana
728 pp 500 00

Devi Bhagavata Mahapurana
1154 pp 800 00

Ganesha Purana
832 pp 1993 500 00

Garuda Mahapurana
668 pp 500 00

Harivansha Purana
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
1802 pp 2vols set 1000 00

Kurma Mahapuran
298 pp 400 00

Linga Mahapurana
774 pp 400 00

Markandeya Mahapurana
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
828 pp 500 00

Narada Mahapurana
932 pp 600 00

Padma Mahapurana
2381pp 4vols set 2000 00

Shiva Mahapurana
1504 pp 2vols set 1000 00

Shiva Mahapurana (Small Type)
412 pp 500 00

Skanda Mahapurana
5600 pp 8 vols set 4000 00

Skanda Mahapurana (small type)
1452 pp 3vols set 2000 00

Vamana Mahapurana
472 pp 400 00

Vayu Mahapurana
540 pp 500 00

Vishnudharmottara Mahapurana
1246 pp 900 00

Vishnu Mahapurana-with two commentaries
680 pp 500 00

विष्णुमहापुराण
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
—डा० श्रद्धा शुक्ला
pp 1000 2 vols Rs 225 00

मत्स्य पुराण
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
—डॉ० श्रद्धा शुक्ला
Demy 1/8 2 vols set Press

Ekamara Purana
490 pp 150 00

Kalki Purana
316pp 120 00

Kuber Purana
(Text With Study) pp 752 Rs 140 00

Narasimha Purana
380 pp 100 00

Saura Purana
290 pp 100 00

Srimadbhargavopapuranam
—Brijesh Kumar Shukla
pp 348 Rs 124 00

Vasuki Purana
260 pp 100 00

Ashtadasha Purana Darpana Contents of 18 Puranas
432 pp 180 00

PURANAS WITH TEXT, TRANS & NOTES IN ENGLISH VERSWISE

Vishnu Purana—*H H Wilson*
1065 pp 2 vols Set 600 00

Matsya Purana—*N S Singh*
1252 pp 2 vols 600 00

Narasimha Purana —*Dr S Jena*
750 pp 400 00

Kalika Purana
Prof Biswanarayan Shastri
1770 pp 3vols set 900 00

Shiva Purana (Uttara Khanda)
(Text with Eng Trs & Introduction)
Demy 1/8 pp 818 Rs 152 00



NAG PUBLISHERS
11/A (UA) Jawahar Nagar, Delhi - 110007 (INDIA)